RNI No. : RAJHIN/2012//50791
ISSN : 2278-6392

शिक्षा की बुनियाद

हिंदी त्रैमासिक | वर्ष : 2 | अंक : 7 | 11 जनवरी, 2014 | उदयपुर | ₹ 200(वार्षिक)

बेहतर शिक्षा के मायने

विद्या भवन सोसायटी

Azim Premji University

शिक्षा की बुनियाद

हिंदी त्रैमासिक | वर्ष : 2 | अंक : 7 | 11 जनवरी, 2014

इस अंक में...

1 अच्छी शिक्षा
रमा कान्त अग्निहोत्री

4 अच्छी शिक्षा की कुछ शर्तें
ऋचा गोस्वामी

6 सार्थक शिक्षा के अर्थ
अरुण चतुर्वेदी

8 बेहतर शिक्षा पर बुनियादी सवाल
डी.एस. पालीवाल

11 अच्छी शिक्षा के बहाने
शरद चन्द्र बेहार

19 गुणात्मक शिक्षा एक द्वंद्व
हृदय कांत दीवान

25 गुणवत्ता सुधार में शिक्षक की भूमिका
संजीव बिजल्वाण

28 प्राथमिक स्कूलों में गुणात्मक शिक्षा के मायने
स्मृति कुलश्रेष्ठ

30 प्रायवेटोपिया के मिथक
अनुराग बेहार

32 'काम और शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण आयाम
सिद्धार्थ जैन

37 अच्छी शिक्षा के मायने बदल गए हैं
सदाशिव श्रोत्रिय

40 21वीं सदी में भारत के सरोकार
(पुस्तक समीक्षा) **रजनी द्विवेदी**

42 फील्ड विजिट : कुछ नोट्स
कमलेश जोशी

46 प्री–बेसिक शिक्षा : बच्चे के हाथ में कमान
मॉर्जरी सॉइक्स

आवरण छायाचित्र – आधारशिला लर्निंग सेंटर के बच्चे
सिद्धार्थ जैन

परामर्श–प्रबंधन : हृदय कांत दीवान, एस. गिरिधर, रामगोपाल वल्लत

संपादक : भाग चंद्र कुमावत

संपादक मण्डल : गुरबचन सिंह, के.आर. शर्मा, कमलेश जोशी, गिरीश शर्मा, रजनी द्विवेदी

चित्रांकन : प्रशांत सोनी

कवर एवं ले–आउट : इसरार अहमद, मो. इकराम

टाइपिंग सहयोग : शाकिर अहमद

वितरण : आशुतोष रावत ✆ 07597824531, निशांत कुमावत ✆ 09950912525

publication.vbs@gmail.com

पत्र व्यवहार के लिए पता

संपादक
'शिक्षा की बुनियाद'
विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र
विद्या भवन सोसायटी परिसर, डा. मोहन सिंह मेहता मार्ग, फतेहपुरा, उदयपुर (राज.) – 313 004
फोन : (0294) 2451497
E-mail : vbs.skb@gmail.com

विद्या भवन सोसायटी और अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी का संयुक्त प्रकाशन

अच्छी शिक्षा

रमा कान्त अग्निहोत्री

वैसे तो 'अच्छी शिक्षा' कहना अपने आप में एक विसंगति है। शिक्षा अच्छी ना हो तो फिर कैसी हो? वास्तविकता तो यह है कि हम शिक्षा से अपेक्षित व्यक्ति व समाज की रचना करने में विफल रहे हैं। इसलिए अच्छी शिक्षा का सवाल बार–बार सामने आता है।

शायद किसी भी व्यक्ति या समाज के जीवन में शिक्षा एक छोटा सा प्रयास ही हो सकता है। हर व्यक्ति कई तरह से बेबस होता है, शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक तौर पर। यदि मैं दृष्टिहीन हूं तो शायद मुझे बदलते रंगों का एहसास कराना कोई आसान काम नहीं। इसी तरह यदि मुझे संगीत या नृत्य में रुचि नहीं है, तो शायद शिक्षा के लिए इस तरह की रुचि पैदा करना काफी कठिन काम है, जबकि इसमें कोई शक नहीं कि व्यक्ति व समाज के संपूर्ण विकास के लिए अच्छी शिक्षा का कला में रुचि पैदा करना एक आवश्यक उद्देश्य होना चाहिए। इसी तरह मेरे परिवार की सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक परंपराओं का मेरे व्यक्तित्व पर काफी गहरा असर होता है। हर समाज भी अपने इतिहास व अपने वर्तमान से बंधा रहता है। अच्छी शिक्षा की शायद सबसे सरल परिभाषा यही है कि वह ऐसे व्यक्तिओं और समाज के निर्माण में योगदान दे जो अच्छे हों। यह परिभाषा जितनी सरल दिखती है उतनी सरल है नहीं। व्यक्ति, समाज व शिक्षा तीनों के ही संदर्भ में 'अच्छे' को परिभाषित करना काफी मुश्किल काम है।

इस परिभाषा की जटिलता इस बात से भी स्पष्ट है कि समय–समय पर यह सवाल बार–बार पूछा जाता है कि अच्छी शिक्षा क्या है। एक धरातल पर तो इस शाश्वत प्रश्न का उत्तर शाश्वत ही है। अच्छी शिक्षा वह है जो जिम्मेदार व अच्छे नागरिक बनाए और अच्छे समाज का निर्माण करे। यह सवाल बार–बार इसलिए पूछा जाता है क्योंकि सामाजिक, राजनीतिक, तकनीकी परिस्थितियां निरंतर बदलती रहती हैं। शिक्षा कैसी हो उसमें विद्यार्थी, अध्यापक एवं पठन सामग्री आदि की क्या भूमिका हो, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारी समाज की छवि कैसी है। यदि हमारी छवि राजा और प्रजा जैसे समाज की है तो शिक्षा एक तरह की होगी; शायद अधिकतर लोगों को शिक्षा हासिल ही नहीं होगी और इसकी कोई विशेष आवश्यकता ही नहीं समझी जाएगी। यदि समाज की परिकल्पना साम्यवादी है तो शिक्षा दूसरी तरह की होगी; शायद सबको शिक्षा मिले लेकिन एक ही तरह की। यदि हम प्रजातांत्रिक समाज की परिकल्पना करते हैं तो शिक्षा का स्वरूप कुछ अलग ही होगा।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी परिस्थितियों के अनुसार भी शिक्षा के बारे में हमारी छवि बदलती रहेगी। आधुनिक युग में कंप्यूटर, इंटरनेट व मोबाइल आदि के आने की वजह से एक सैलाब सा आ गया है। एक वास्तविक कक्षा की अपेक्षा जहां एक अध्यापक व विद्यार्थी आमने–सामने होते थे, 'वर्चुअल कक्षा' एक वास्तविकता बनती जा रही है। एक समय था कि पहाड़े याद करना, वर्णमाला, छोटी कहानियां व कविताएं कंठस्थ करना, विभिन्न देशों की राजधानियों के नाम रटना या गणित में इस

तरह के सवाल निकालना कि 50 वर्ष पूर्व आज के दिन क्या तिथि व दिन रहा होगा, आवश्यक माने जाते थे। आज के युग में इन सब बातों के उत्तर पल भर में गूगल पर मिल जाते हैं। शिक्षा की परिकल्पना में इतनी विविधता होने के बावजूद भी, शायद इस बात पर प्राचीन काल से कभी प्रश्न चिह्न नहीं लगाया कि शिक्षा का उद्देश्य सृजनात्मकता को बढ़ावा देना है और इस तरह की चुनौतियां बच्चों के सामने रखना है जिनसे वे निरंतर नए–नए प्रश्न पूछते रहें और नए ज्ञान की रचना करते रहें। परेशानी की बात यह है कि यदि यह बात स्पष्ट है तो हमारे प्रयास भारत में ही नहीं बल्कि संसार भर में विफल क्यों रहते हैं।

शायद इसका एक मुख्य कारण यह है कि हमारा ध्यान शिक्षा के उद्देश्यों व नैतिक प्रश्नों पर केंद्रित नहीं रहता। हम रटने की प्रक्रिया से दूर होते हैं तो गतिविधि आधारित शिक्षा की बात करने लग जाते हैं और हम सब लोगों का, चाहे वे पाठ्यक्रम बनाने वाले हों या किताब बनाने वाले या फिर कक्षा में पढ़ाने वाले अध्यापक, ध्यान गतिविधियां बनाने या उन्हें करवाने में लग जाता है। गतिविधि करवाना ही अपने आप में शिक्षा का उद्देश्य बन जाता है। अधिकतर हम ''बाल केन्द्रित गतिविधि आधारित, आनंदमयी शिक्षा'' की बात करने लगते हैं। हर व्यक्ति जो किसी भी क्षेत्र में ज्ञान के बारे में कुछ समझता है, जानता है कि ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में काफी परिश्रम लगता है; आनंद का एहसास तो केवल उस परिश्रम के बाद ही होता है। इस तरह की गतिविधि आधारित शिक्षा में हम शिक्षा के उद्देश्य व नैतिकता के बारे में कोई प्रश्न नहीं पूछते। जब गतिविधियों से हम ऊब जाते हैं और उनका कोई विशेष परिणाम नहीं देखते तो हमारे शिक्षाविद् हमें अच्छी किताबें बनाने की तरफ ले जाते हैं। यह कहना शुरू हो जाता है कि यदि पठन सामग्री अच्छी होगी तो शिक्षा स्वयं अच्छी हो जायेगी। ना केवल हम सीखने व सिखाने वाले से दूर हो जाते हैं बल्कि उद्देश्यों व नैतिकता को भी दूरअंदाज कर देते हैं। हमारी नैतिकता इसी बात तक सीमित हो जाती है कि किताबों में ऐसी कहानियां या कविताएं हों जिनके अंत में कोई उपदेश लिखा जा सके। उदाहरण के लिए ''जैसे को तैसा''। पठन सामग्री जब सार्थक होती नहीं दिखती तो हमें लगता है कि हमें शिक्षक–प्रशिक्षण के बारे में कुछ करना चाहिए। शिक्षा को इस तरह से टुकड़ा–टुकड़ा कर देखने से अच्छी शिक्षा का सपना संभव नहीं।

डॉ. राधाकृष्णन आयोग (1948–49) के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक आवश्यकता समन्वय की है। इस कमीशन ने यह भी कहा कि क्रांतिकारी राजनैतिक बदलावों की अपेक्षा जो प्रश्न शिक्षा के क्षेत्र में पूछे जाते हैं वे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सदियों से चली आ रही परंपराओं व मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाना, पाठशाला एवं विश्वविद्यालयों में ही संभव है। यदि हमें नए रास्ते खोजने हैं तो हमें उन दार्शनिकों, कलाकारों व वैज्ञानिकों की बात सुननी पड़ेगी जो शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। हमें यह भी कोशिश करनी पड़ेगी कि वे स्वतंत्रता एवं निडरता से नए–नए सवाल उठाते रहें और शोध करते रहें। डॉ. राधाकृष्णन आयोग ने यह भी कहा कि अपनी प्राचीन मान्यताओं एवं उपलब्धियों के गुणगान करने की अपेक्षा उन पर विश्लेषणात्मक, बौद्धिक प्रश्न उठाने का साहस केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही हो सकता है। और यह तभी संभव है जब भविष्य की एक सुसंगत परिकल्पना, समेकित जीवन की छवि एवं ज्ञान के विभिन्न पहलुओं का समन्वय हो सके। हमें सूचनाओं, ज्ञान एवं विवेक तीनों की आवश्यकता है। लेकिन विवेक रहित सूचनाएं एवं ज्ञान अच्छी शिक्षा के लक्षण नहीं हो सकते। राधाकृष्णन आयोग टी.एस. एलीयेट की कुछ पंक्तियों में इस बात को कहने की कोशिश करता है। इनका टूटा–फूटा अनुवाद कुछ इस तरह से है–

वो विवेक कहां जो हमने ज्ञान में खो दिया,
वो ज्ञान कहां जो हमने सूचनाओं में डूबो दिया,
बीस सदियों की इस यात्रा ने,
हमें खुदा से दूर कर,
ख़ाक में मिला दिया।

यदि विवेक को शिक्षा का मध्य बिंदु मान लिया जाए तो अच्छी–बुरी शिक्षा की बात करने की शायद आवश्यकता न रहे। विवेकपूर्ण शिक्षा की परिभाषा एवं व्याख्या करने लगे तो शायद कई ग्रंथ चाहिए। ऐसे कई ग्रंथ लिखे भी जा चुके हैं। लेकिन फिर भी एक–दो ऐसे पहलुओं की बात करना शायद यहां सार्थक होगा जिन्हें हम भूल चुके हैं। विवेकपूर्ण शिक्षा का एक लक्षण निश्चित रूप से सृजनात्मकता है। सृजनात्मकता का एक पहलू रस, हंसी, हाजिर–जवाबी एवं अनेकार्थ शब्दों से खिलवाड़ है। हमारी पढ़ाई–लिखाई एवं पाठशालाओं से इस पक्ष को दूर ही रखा जाता है। आजकल यह आम बात है कि बच्चे हिंदी और अंग्रेजी साथ–साथ पढ़ते हैं लेकिन फिर भी शायद ही कभी बच्चों का ध्यान उन विसंगतियों की ओर ले जाया जाता हो जो कि अंग्रेजी के ''more'' और हिन्दी के ''मोर'' या अंग्रेजी के ''shore'' और हिंदी के ''शोर'' से पैदा हो सकती हैं। इसी तरह लंबे चुटकुले जिनमें घटनाक्रम का एक ऐसा सिलसिला होता है जिससे सुनने वाले इस बात के लिए उत्सुक होते हैं कि निष्कर्ष क्या होगा? कई तरह के निष्कर्ष संभव होते हैं। लेकिन चुटकुले में निष्कर्ष (punch line) ऐसा होता जो कि अपेक्षित निष्कर्ष से ठीक उल्टा होता है। वी.एस. रामाचन्द्रन एवं सांद्रा ब्लेकस्ली ने अपनी किताब ''फैंटम्ज़ इन द ब्रेन'' (हॉर्पर कॉलिंस 1998/2009) में हंसी व हाज़िर–जवाबी एवं सृजनात्मकता का गहरा विश्लेषण किया है। उनका मानना है कि हंसना भी भाषा, गणित एवं संगीत की तरह शायद अन्तर्जात है एवं हमारे क्रमिक दिमागी विकास का आवश्यक अंग है। वे यह भी कहते हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि 'खाना बनाना' अंतर्जात है क्योंकि हर समाज खाना भी बनाता है। खाना हम इसलिए बनाते हैं क्योंकि हम खाने के बिना जिंदा नहीं रह सकते। हंसने के बिना तो जिंदा रहा जा सकता है। अपनी पुस्तक में वे कहते हैं कि ''हंसना और मजाक शायद सृजनात्मकता का पूर्वाभ्यास (dress rehearsal) है और यदि ऐसा है तो चुटकुले, अनेकार्थी शब्द और मज़ाक और हाज़िर–जवाबी के अलग–अलग रूप हमारे विद्यालयों के औपचारिक पाठ्यक्रम का हिस्सा होने चाहिए (पृ. 206)।'' इस तरह की सृजनात्मकता में सोचना–समझना, विश्लेषण करना, तर्क देना, प्रश्न पूछना एवं किसी निष्कर्ष पर पहुंचना सब शामिल है।

विवेकशील शिक्षा के बारे में एक अन्य प्रश्न है कि किसी भी परिस्थिति में किस निर्णय को नैतिक व विवेकशील माना जाएगा। इस बात का उत्तर शायद इमेन्यूल कांत ने अपने 1785 में दिए गए अनिवार्य विधान (categorical imperative) में दे दिया था। इनका मानना था किसी भी परिस्थिति में यदि अलग–अलग लोग तार्किक दृष्टि से निर्णय लें तो वे एक से ही मुकाम पर पहुंचेंगे। उनके अनुसार आपके किसी भी निर्णय लेने और उस पर आचरण करने का विधान यह होना चाहिए कि आप यह मान कर चलें कि जो आप कर रहे हैं, वह एक सार्वभौमिक विधान बनने की क्षमता रखता हो। यदि हम सृजनात्मकता एवं कांत के अनिवार्य विधान को साथ लेकर चलें तो शायद अच्छी/विवेकपूर्ण शिक्षा का निर्माण हो सके। और शिक्षा एक छोटा प्रयास होते हुए भी व्यक्ति और समाज को बदलने में हमारी सहायता कर सके।

रमा कान्त अग्निहोत्री : दिल्ली विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञानी के रूप में लंबे समय तक कार्य करने के बाद आजकल विद्या भवन से संबद्ध। विद्या भवन तथा अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की संयुक्त पत्रिका 'लैंग्वेज एंड लैंग्वेज टीचिंग' के संपादक हैं।

अच्छी शिक्षा की कुछ शर्तें

ऋचा गोस्वामी

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा समकालीन शैक्षिक संवाद का सबसे अहम मुद्दा है। हर स्तर पर होने वाली बातचीत इसके इर्द–गिर्द घूम रही है। कुछ शिक्षाविदों का मानना है कि शैक्षिक संवाद में गुणवत्ता की चर्चा हाल ही में शामिल हुई है। इसका एक कारण जो समझ आता है, वह है शिक्षा का विस्तार। जैसे–जैसे हमने शिक्षा को ज्यादा बच्चों तक पहुंचाने का काम किया, वैसे–वैसे गुणवत्ता पर सवाल खड़े होने लगे। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि जब ये सवाल उठ नहीं रहे थे, तब सब ठीक था। दरअसल, आज के संदर्भ में दो मुख्य सवाल हैं। एक तो शिक्षा के विस्तार के साथ–साथ उसमें विषमताएं और बड़े स्तर पर दिखने लगीं और दूसरा, गुणवत्ता का सवाल ज्यादा अहम हो गया।

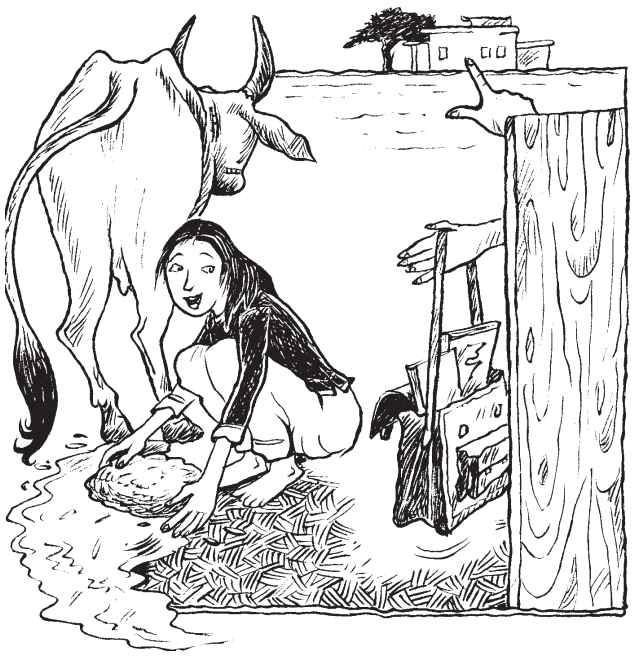

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र पिछले पांच सालों से गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की अपनी समझ के आधार पर उदयपुर शहर की कच्ची बस्तियों के स्कूलों में काम कर रहा है। इस समझ को समेकित करने का प्रयास इस लेख में किया गया है।

शिक्षा समाजीकरण की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। इस नाते यह हमें काफी हद तक समाज में स्थापित वैयक्तिक और सामूहिक भूमिकाओं के लिए तैयार करती है। यह प्रचलित भूमिकाएं आमतौर पर समाज में पहले से बनी हुई असमानताओं लिंग और जाति पर आधारित होती है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए अच्छी शिक्षा की पहली शर्त जिस पर चर्चा की जानी चाहिए वो है– समता। अलग–अलग सामाजिक पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों को बराबरी के शैक्षिक अवसर मिलने चाहिए, इसमें कोई दो राय नहीं है। पर यदि हम शिक्षा को समाज में समानता बनाने वाली एक ताकत के रूप में देखें तो मात्र बराबर अवसर देना काफी नहीं है। कृष्ण कुमार इस मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए लड़कियों की शिक्षा का उदाहरण लेते हैं। लड़कियां आज भी भेदभाव और बंदिशों का सामना करती हैं। समान अवसरों के अलावा स्कूल को लड़कियों को बराबरी पर लाने के लिए ज्यादा

प्रोत्साहन, सहारा और आगे बढ़ने के अवसर देने पड़ेंगे। चूंकि स्कूल की जिम्मेदारी यह भी है कि बच्चियों को उनके घर–परिवेश के नकारात्मक अनुभवों से उबारा भी जाए।

अच्छी शिक्षा की दूसरी शर्त होनी चाहिए– स्वावलंबी बनने की तैयारी। यह तो मानी हुई बात है कि शिक्षा वयस्क भूमिका की तैयारी है पर इसका सीमित रूप हमें आज की शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों में नजर आता है। शिक्षा ऐसी हो जो नौकरी पाने में मदद करें। यह कोई गलत उद्देश्य नहीं है पर संकीर्ण अवश्य है। स्वावलंबी बनने के लिए हमें नौकरी के अलावा अपने बहुत से काम खुद करने के कौशल और इच्छा शक्ति दोनों चाहिए। स्कूलों में हाथ से काम करने का प्रशिक्षण नगण्य है।

इससे जुड़ी हुई बात है स्वयं काम करने के मौके। स्कूलों में बच्चों के प्रति अविश्वास इस हद तक है कि हम उन्हें खुला छोड़ने से डरते हैं। खुद से कुछ करने की तो बात ही अलग है। अनगिनत ऐसे मौके हम रोज गंवाते हैं। खुद प्रश्नों के उत्तर लिखना, कक्षा का बोर्ड सजाना, क्रियात्मक लेखन, प्रार्थना सभा की प्रस्तुति, अपनी पढ़ी हुई किताबों का ब्यौरा रखना आदि। बच्चों को जिम्मेदारी के लिए तैयार करने के दो ही तरीके हैं– उन्हें जिम्मेदारी सौंपना और कक्षा में खुली चर्चा का माहौल बनाना। साथियों और शिक्षकों से काम की योजना पर, आने वाली समस्याओं पर, एक दूसरे से हुई गलतियों पर खुली चर्चा कर पाना इन कार्यों को सीखने के अवसरों में तब्दील कर देगा।

तीसरी, अच्छी शिक्षा की शर्त है– तार्किक समझ का विकास। हर विषय का संचित ज्ञान अथाह है, किसी भी उम्र में किस तरह का कितना ज्ञान देना उचित है, एक राजनैतिक और कुछ हद तक शिक्षाविदों के मनमानेपन का परिणाम है। पर हर विषय की पढ़ाई से एक समान अपेक्षा तो है ही कि वह बच्चों को दुनिया में यथास्थिति लेने के बजाए उस पर सवाल उठाने और भिन्न संभावनाएं ढूंढ़ने के लिए प्रेरित करे। यानि अच्छी शिक्षा के उद्देश्यों में बच्चों में सवाल उठाने और नए उत्तर ढूंढ़ने की क्षमता शामिल होनी चाहिए।

एक आखिरी शर्त, जिस पर हम बात करेंगे वह है शिक्षकों की आजादी। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें हर कक्षा की स्थिति, हर बच्चे की परिस्थिति, सीखने का तरीका, शिक्षक का नजरिया और उसकी क्षमताएं आदि बहुत से पहलुओं की अंतःक्रिया होती है। इन सब चीजों को ध्यान में रखते हुए सीखने का माहौल बनाने की जिम्मेदारी एक शिक्षक की है। स्कूल के प्रबंधक या सरकारी अफसर इसमें मदद कर सकते हैं पर नियंत्रित नहीं कर सकते। सीखने–सिखाने की प्रक्रिया बच्चों के लिए उपयुक्त हो, यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षकों को पाठ्यपुस्तक, सी.सी.ई. आदि के जाल में बांधा न जाए बल्कि इन्हें सहयोग का तरीका समझा जाए।

कुल मिलाकर अच्छी शिक्षा की चार शर्तों पर इस लेख में बात की गई है। पहली, शिक्षा समतावादी होनी चाहिए। इसके लिए केवल बराबरी के अवसर देना काफी नहीं है, स्कूल में ऐसा माहौल बनाने की ज़रूरत है। विभिन्न और गैर बराबरी के परिवेश से आने वाले बच्चों को हम जिंदगी में आगे बढ़ने के लिए बराबर ला सकें। दूसरी, शिक्षा स्वावलंबी वयस्क बनने में मदद करे। तीसरी, शिक्षा बच्चों में तार्किक सोच और सवाल खड़े करने की क्षमता बनाए और चौथी, शिक्षकों पर भरोसा और उनकी आजादी।

ऋचा गोस्वामी : विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र में कार्यरत हैं।

सार्थक शिक्षा के अर्थ

अरूण चतुर्वेदी

शिक्षा का प्रयोजन क्या है, इसकी बहस उन सब लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण है जो शिक्षा को सामाजिक बदलाव का माध्यम मानते हैं। पिछले वर्षों में दक्षिणी राजस्थान के संदर्भ में प्रो. बी.सी. मेहता ने एक अध्ययन किया था, विशेषकर शिक्षा के द्वारा बदलाव की क्षमता को जांचने के लिए। प्रो. मेहता का निष्कर्ष था कि शिक्षा जीवन स्तर और जीवन शैली दोनों में ही बदलाव लाती है। किंतु शिक्षा से बदलाव लंबे समय तक का निवेश है और उचित व्यवस्था न हो तो वह बीच में ही बिखरने लगता है। यों यह आकलन गलत नहीं है कि शिक्षा ने दक्षिण राजस्थान में व्यापक बदलाव किए हैं और उसके अनुभव दक्षिण राजस्थान के सुदूर अंचल में किए जा सकते हैं।

शिक्षा के संदर्भ में एक बात और की जाए तो गलत नहीं होगा। शिक्षा संचालन और शिक्षा के प्रयोजन मुख्य रूप से शासक वर्ग की आवश्यकताओं और उनके हितों से भी जुड़े हुए हैं। इस विचार को आरंभिक यूरोपीय संदर्भ से जोड़ा जाए तो राजनीति विज्ञान के अपने अध्ययन के संदर्भ में यह प्रसंग बार–बार याद आता है कि राजा (शासक) को संगीत का अच्छा ज्ञान हो क्योंकि संगीत की लय के बदलने के साथ ही राज्य बदलता है। यदि यह प्रक्रिया है तो राजा के कान संगीत विभेद को पहचाने और उसके अनुरूप अपने आप को ढालें। हमारे अपने संदर्भों में ब्रिटिश औपनिवेशिक शिक्षा का उद्देश्य भारत में उन रुचियों के युवाओं को तैयार करना रहा था जो भारत के हों किंतु विचार क्रम में ठेठ पश्चिम के विचार क्रम से जुड़े हों। कई अवसरों पर यह लगता है कि शिक्षा के माध्यम से दूसरे प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं। भारतीय संदर्भ भी इसके प्रयास के रूप में दिए जा सकते

हैं, जहां पश्चिम के संदर्भ में ही हमने प्रजातंत्र, विवेक और उदारवाद की बातें सीखीं जिनसे हमारा राष्ट्रीय आंदोलन प्रभावित रहा।

शिक्षा के प्रयोजन के संदर्भ में यह चर्चा गलत नहीं होगी कि शिक्षा का प्रयोजन क्षमताओं का संवर्द्धन भी है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि हमारी जो भी क्षमताएं हैं उन्हें विकसित करने का कार्य शिक्षा का है। इस क्रम में यदि इस तरह की क्षमता के विकास की बातचीत की जाए तो पहला अर्थ है सोचने की क्षमता। उन सब स्थितियों का निर्माण जो व्यक्ति के विकल्प की सोच को आगे बढ़ाती हैं। इसमें विचारों से जुड़े विमर्श भी संबंधित हैं। इसी संदर्भ में विवेक और प्रजातंत्र, सोच की क्षमताओं के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। यहीं व्यक्ति, व्यक्ति चेतना और उससे जुड़े प्रश्न उल्लेखनीय हो जाते हैं। इसी संदर्भ में धर्म से जुड़ी शिक्षा व्यवस्थाओं की सीमाएं भी नजर आती हैं। क्योंकि उसमें विवेक का स्थान अंधविश्वास और स्वतंत्रताओं का स्थान धर्म गुरु के निर्देश और उनके प्रति श्रद्धा ले लेती है। इस दृष्टि से यदि हम हमारी स्कूली शिक्षा को याद करें तो गलत नहीं होगा। उदयपुर में विद्या भवन के शिक्षा के प्रयोगों को आज याद करना गलत नहीं होगा जिसके अंतर्गत बच्चों को पूर्ण विकास व हस्तकौशल आदि के मौके दिए जाते थे। पाठ्यक्रम वही था जो 1950 से 1960 के दशक में सभी स्कूलों में पढ़ाया जा रहा था। शिक्षा का माध्यम हिंदी था किंतु विशिष्टता यह कि विचार करने की क्षमताओं में अभूतपूर्व विकास के मौके और व्यक्ति की चेतना को कुंद करने वाले वातावरण से मुक्ति।

दूसरा कौशल उन क्षमताओं के विकास का है, जिनसे जीवनयापन की क्षमताओं का विकास हो। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था के अधिक समर्थक मिल जाएंगे क्योंकि जीवनयापन के जुड़े प्रश्नों से शिक्षा लंबे समय तक मुंह नहीं मोड़ सकती है। विशुद्ध वैचारिक उपलब्धियों से शिक्षा को जोड़े रखना, लगता है यह अभिजन (उच्च कुलीनता) गतिविधि है। ऐसी स्थिति में शिक्षा को जीवनयापन के कौशल से जोड़ने की बात उन सभी के लिए आवश्यक है जो शिक्षा को व्यापक बनाने का आग्रह करते हैं। इन्हीं क्षमताओं के विकास में तकनीकी का विस्तार और उसके उपयोग की बात भी जुड़ी है। सामान्य जन की रुचि इसी में है कि शिक्षा उसे जीवनयापन की क्षमताओं में विस्तार की सुविधा दे।

एक और प्रसंग में भी शिक्षा पर बातचीत होनी चाहिए। विशेषकर 1990–91 के वैश्विक संदर्भों के पश्चात् जहां राज्य अपने कार्यों को विशेषकर लोक कल्याणकारी कार्य को सीमित करता जा रहा है और जिसमें शिक्षा भी सम्मिलित है। ऐसी स्थिति में शिक्षा स्वयं सामाजिक अंतरालों के विस्तार का आधार हो सकती है। हमारे यहां यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि राज्य शिक्षा के विस्तार का एक स्तर तक फैलाव करे जिसकी एक स्तर तक सामान्य गुणात्मकता बनी रहे और उसके पश्चात् अन्य विकल्प उपस्थित हों, किंतु राज्य की शिक्षा से अनुपस्थिति, कई विषम स्थितियों को जन्म देगी। राज्य के अभाव में शिक्षा के विस्तार की क्या स्थिति बनी, इसे दक्षिण राजस्थान से अच्छा कौन समझ सकता है जहां साक्षरता की दर नगण्य थी। शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा यह हिस्सा अन्य दृष्टियों से भी पिछड़ा रहा है। हमारा आग्रह तो यही रहेगा कि शिक्षा का सार्थक स्वरूप जीवनयापन के साथ–साथ अच्छे जीवन के लिए स्थापित मूल्यों को भी आगे बढ़ाए।

अरुण चतुर्वेदी : सेवानिवृत्त प्रोफेसर, विद्या भवन रूरल इंस्टीट्यूट में कार्यरत हैं।

बेहतर शिक्षा पर बुनियादी सवाल

डी. एस. पालीवाल

हम बेहतर शिक्षा पर विचार करते हैं तो सबसे पहला प्रश्न उठता है कि हमें बेहतर शिक्षा क्यों चाहिए? मोटे रूप से इसका उत्तर यह दिया जाता है कि वर्तमान शिक्षा में अनेक कमियां हैं जैसे– वर्तमान शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध शिक्षा सिद्धांतों और अवधारणों के परीक्षण के मौके नहीं देती है जिससे उन पर सवाल उठाने का मौका नहीं मिलता है और विद्यार्थी रटंत विद्या द्वारा आगे बढ़ते हैं। इस शिक्षा की परीक्षा प्रणाली में ही खोट है जो परीक्षार्थी को जो कुछ नहीं आ पाता है, उसकी जांच करती है, न कि उसके पास उपलब्ध जानकारी अथवा ज्ञान की। यह शिक्षा विद्यार्थियों को केवल केरियरवादी बनाती है, शारीरिक श्रम से दूर करती है तथा समाज से अलग–थलग करती है। अर्थात् विद्यमान शिक्षा व्यवस्था की पाठ्यपुस्तकें, शिक्षण पद्धतियां तथा परीक्षा प्रणाली विद्यार्थियों को व्यक्तिगत स्वार्थों की तरफ धकेलती है। फलतः 'ज्ञान के लिए प्रवेश' तथा 'सेवा के लिए प्रस्थान' के नारे वाले विद्यालयों से, मानवीय मूल्य और नैतिकता से विहीन यंत्रवत् मानवों का निर्माण होता है, जो न स्वयं का सर्वांगीण विकास करने के योग्य बनते हैं, न ही बेहतर समाज के निर्माण में अपनी भूमिका निभा सकते हैं। ऐसे अनेक बिंदुओं के आधार पर विद्यमान शिक्षा व्यवस्था को बेहतर शिक्षा नहीं कहा जा सकता है।

असल में हम ऐसी शिक्षा व्यवस्था चाहते हैं जिसमें उपर्युक्त कमियां नहीं हों, तभी उसे बेहतर शिक्षा कह सकेंगे। ऐसी शिक्षा व्यवस्था कैसे लाई जा सकती है अथवा बेहतर शिक्षा व्यवस्था के लिए किस तरह के समन्वित प्रयासों की जरूरत है, आदि सवालों का उत्तर तलाशने से पहले यह जानने की कोशिश करते हैं कि यह व्यवस्था क्यों

चल रही है। हम इसे घटिया शिक्षा व्यवस्था कहकर नकारते रहे हैं। पर हमारे नीति निर्माताओं में से कुछ शिक्षाविद् या बुद्धिजीवी ऐसे भी हैं जो शब्दों में तो इसकी आलोचना करते हैं पर वास्तव में इसे चेतन या अवचेतन रूप से बनाए रखना चाहते हैं। यहां यह सवाल उठना भी लाजिमी है कि इसे बनाए रखने से किसे फायदा होता है?

ऐसे व्यक्तियों, तबकों या वर्गों को इसका फायदा मिल रहा है जो यह चाहते हैं कि समाज में सभी इंसान ऐसे हों जो अपने जीवन निर्वाह के लिए अपना मानसिक और शारीरिक श्रम बेचते रहें तथा इस कार्य को लगातार आगे बढ़ाने के लिए इसके ज्ञान तथा श्रम का पुनरूत्पादन भी करते रहें ताकि वे उसे खरीद सकें और लगातार अपना मुनाफा कमाते रह सकें। ऐसे सभी लोग इस शिक्षा व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं, जो आमजन के अज्ञान से फायदा उठाते हैं अथवा उठाना चाहते हैं। ताकि वे पाखंड कार्मकांड तथा भाग्यवाद के आधार पर डराकर अपना स्वार्थ साध सकें। वे सभी विशेषज्ञ जो शिक्षा को केवल किताबी बना कर तरह–तरह के पाठ्यक्रम, मौजूदा पाठ्यक्रम में सुधार और बदलाव के नाम पर बड़ी–बड़ी तनख्वाहें तथा फंड प्राप्त करते रह सकें। दरअसल, देश के स्थापित राजनेता जो जनता को अज्ञानी ही बनाए रखना चाहते हैं या यूं कहें कि वे ज्ञान–विज्ञान के विकास से घबराते हैं तथा यथास्थिति में ही अपना फायदा देखते हैं। जैसे उदाहरण के लिए रटंत के लिए पास–बुकें प्रकाशित करने वाले, ट्यूशन खोरी करने वाले या केरियर के नाम पर बड़े–बड़े कोचिंग इंन्स्टीट्यूट्स संचालित करने वाले यह कभी नहीं चाहेंगे कि विद्यालय में आनंदायी और करके सीखने वाली, सवाल उठाने वाली तथा उनके हल के लिए चुनौतियां स्वीकार करने वाली शिक्षण पद्धतियों से सीखकर अगली पीढ़ियां तैयार हों तथा विद्यालय विद्यार्थियों को वास्तव में सेवा के लिए दीक्षित कर उन्हें समाज की आवश्यकता को पूरा करने काबिल बना सके।

आपने चंद राजाओं, महाराजाओं व सामंतों के किस्से सुने होंगे। उन्होंने लोगों को शिक्षा देने के हर प्रयास का विरोध किया था और वे यह तर्क देते थे कि दलित–पीड़ित वर्ग यदि पढ़ लिख जाएगा तो शारीरिक श्रम कौन करेगा?

विद्यमान समाज में भी शिक्षा के संबंध में दो परस्पर विरोधी विचार हैं। ये विचार दो परस्पर विरोधी वर्गों के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही वजह है कि समाज में जितनी तरह की परतें हैं, उतनी ही प्रकार के विद्यालय देखने को मिलते हैं। जिनमें महंगे से महंगे निजी विद्यालयों से लेकर गलियों तथा ढ़ाणियों में चलने वाले छोटे से दड़बों जैसे निजी विद्यालय देखे जा सकते हैं। इसी तरह सरकार ने भी अपनी नीतियों द्वारा ग्रामीण विद्यालय, आश्रम विद्यालय, नवोद्य विद्यालयों जैसे परतदार विद्यालय खोलकर समान शिक्षा व्यवस्था को खुद ही ठोकर लगाई है।

ऐसी स्थिति में हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि हम किसके लिए बेहतर शिक्षा चाहते हैं। जहां तक हमारी समझ है, हम अधिकांश जनता के लिए बेहतर शिक्षा की बात कर रहे हैं। 2006 में अर्जुनसेन गुप्ता ने प्रधानमंत्री को एक रिपोर्ट पेश की थी जिसमें पेश किए गए आंकड़ों पर हम नजर डालें तो हमें मालूम होगा कि देश की कुल श्रमशक्ति का 86 प्रतिशत भाग असंगठित क्षेत्र में है तथा 77 प्रतिशत लोग 20 रुपए प्रतिदिन में गुजारा करते हैं।

एक अन्य स्रोत राजस्थान पत्रिका के आंकड़ों के अनुसार आज गांव में 75 रुपया प्रति व्यक्ति प्रति दिन तथा शहरों में 150 रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन या उससे अधिक खर्च करने वालों की संख्या

महज 10 प्रतिशत है। इस प्रकार इन आंकड़ों से यह साबित होता है कि देश में 80 प्रतिशत से ज्यादा लोगों का जीवन खेती और मजदूरी एवं मेहनत पर निर्भर है और वे सभी मेहनतकश हैं। यह आसानी से आत्मसात किया जा सकता है कि मेहनतकशों के लिए बेहतर शिक्षा ही सारे समाज के लिए बेहतर शिक्षा हो सकती है। ऐसी अधिसंख्य गरीब जनता को अपने जीवन संघर्षों को सही दिशा में आगे बढ़ाने तथा उत्पादन संघर्ष का संचालन करने के दृष्टिकोण से बेहतर शिक्षा की आवश्यकता है। इस तरह मेहनतकशों के लिए बेहतर शिक्षा वही हो सकती है, जो उनकी मुक्ति का हथियार बन सके।

किसी भी तरह की शिक्षा के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं– शिक्षक, शिक्षार्थी तथा शिक्षण सामग्री। शिक्षण सामग्री के तहत मटेरियल, भवन तथा सिलेबस को सम्मिलित किया जाता है और शिक्षण सुधार या परिवर्तन के चौतरफा प्रयासों के बजाए केवल सामग्री की बेहतरी पर ही ध्यान केंद्रित किया जाता है। ये प्रश्न भी अनुत्तरित ही रह जाता हैं कि विद्यमान समाज से बेहतर शिक्षक क्यों नहीं निकल पाते हैं? गुरुजी के सामाजिक मूल्य क्या होने चाहिए? यह सवाल भी लाजिमी है कि कोई भी प्रखर विद्यार्थी शिक्षक क्यों नहीं बनना चाहते हैं। दूसरी ओर, आज के संदर्भ में सिलेबस व पाठ्यपुस्तकों को विकसित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। परंतु उनमें भी कृषि व मजदूरी (श्रम) की महत्ता के बारे में बहुत कम लिखा जाता है। वहीं श्रम की गरिमा को स्थापित करने के लिए पाठ्यचर्या में कोई स्थान दिखाई नहीं देता है। ऐसे में शारीरिक श्रम को हीन समझने के पाठ तथा सवाल बच्चों के मस्तिष्क पर क्या प्रभाव डालते हैं, यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। वस्तुतः बेहतर शिक्षा के क्रम में श्रम के सामाजिक मूल्य को स्थापित करने वाले प्रयास करने अति आवश्यक है। इसी बुनियाद पर बेहतर शिक्षा संभव है।

अंत में, बेहतर शिक्षा उसे कहा जाएगा जिससे विद्यार्थियों को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक ज्ञान प्राप्त हो और वे कुशल अर्थात् इतने योग्य बन सकें कि जरूरत पड़ने पर उद्योग, कृषि तथा सेना का कार्य भी संभाल सकें। उनमें इतनी योग्यता व दक्षता पैदा हो सके कि वे समाज की आवश्यकताओं के अनुसार तथा अपने रूझान के अनुसार उत्पादन की एक शाखा से दूसरी शाखा में जा सकें। पर सवाल अपनी जगह ही रहता है कि शोषक–शोषित के भेद वाले वर्ग समाज के रहते मेहनतकशों के व्यक्तित्व और जीवन को बेहतर बनाने वाली बेहतर शिक्षा कैसे संभव है? निसंदेह, सामाजिक–आर्थिक –राजनीतिक व्यवस्था के बदलाव के संदर्भ के साथ–साथ ही बेहतर शिक्षा व्यवस्था विकसित की जा सकती है। इस प्रक्रिया में अधिसंख्य समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बेहतर शिक्षा का मार्ग प्रशस्त होगा।

डी.एस. पालीवाल : सामाजिक कार्यकर्ता। शिक्षा और समाज के मसलों पर दक्षिणी राजस्थान के आदिवासी क्षेत्र के जन संगठनों के साथ संलग्न।

अच्छी शिक्षा के बहाने

शरद चन्द्र बेहार

'शिक्षा' और 'चिड़िया' शब्दों में एक समानता है। ये दोनों एक वचन भी हैं और बहुवचन भी। हम 'शिक्षियां' और 'चिड़ियों' नहीं कहते। मेरा इरादा कोई व्याकरण पढ़ाने का नहीं है। पर प्रारंभ में ही यह रेखांकित करना चाहता हूं कि अच्छी शिक्षा को यदि एक वचन के रूप में लिया जा रहा है तो बड़ी गलती है। अच्छी शिक्षा एक चीज नहीं है। बहुत सारी अच्छी शिक्षा होती है। शिक्षा में काम करने वालों को यह अच्छी तरह आत्मसात कर लेना चाहिए कि अच्छी शिक्षा की एक परिभाषा, एक उदाहरण, एक मॉडल नहीं तलाश जा सकता क्योंकि अच्छी शिक्षा के विविध रूप होते हैं।

इन विविध रूपों की चर्चा के पहले शिक्षा की सामान्य अवधारणा को भी स्पष्ट करना होगा। बंदर बहुत सारी बातें अपने जीवन में सीखते हैं। इस तरह असंख्य प्राणी हैं जो अपने जीवन में बहुत कुछ सीखते हैं। उनके सीखने के लिए कोई विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय स्थापित नहीं होता। मनुष्य भी सीखने वाला प्राणी है। जन्म से मृत्यु तक वह सीखता रहता है अर्थात् शिक्षा ग्रहण करता रहता है। अभिमन्यु की पौराणिक कथा को छोड़ भी दें, तो आज वैज्ञानिक शोधों से भी निष्कर्ष निकला है कि गर्भ में भी बच्चा सीखता है। यह तो लगभग स्थापित हो गया है कि बच्चा पैदा होते ही अपनी मां की आवाज को दूसरी आवाजों से फर्क कर लेता है। ऐसे में अच्छी शिक्षा का मतलब केवल संस्थागत अच्छी शिक्षा मानना बड़ी भूल होगी।

स्पष्ट है कि शिक्षा की अवधारणा किसी संस्था में दी जाने वाली शिक्षा से बहुत अधिक व्यापक है। अच्छी शिक्षा को परिभाषित करते समय यदि इसे नजरअंदाज किया गया तो बड़ी गलती होगी। जीवन का हर वक्त का हर क्षण, हर पहलू जाने–अनजाने शिक्षा की प्रक्रिया से गुजर रहा है। इसे समझने और स्वीकार कर लेने से यह बात साफ हो जाएगी कि शिक्षा निरंतर प्रवाहमान है। शिक्षा वह चिड़िया है जो स्वच्छंद विचरण करती है। संस्था–विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि के पिंजड़े में शिक्षा को बंद कर देना और फिर उसी के अंदर अच्छी शिक्षा की एक तलाश करना बड़ा भटकाव है। जो चिड़िया पिंजड़े में बंद है, वह कभी अच्छी चिड़िया नहीं हो सकती। चिड़िया की अच्छाई तो उसके उड़ने की नैसर्गिक क्षमता से ही जाहिर होती है। मेरा विश्वास है कि जो शिक्षा केवल संस्था की चहारदीवारी के अंदर कैद है, वह अच्छे की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। अच्छी शिक्षा का पहला गुण है, जिंदगी से जुड़ी शिक्षा। यह हो सकता है कि संस्था में कोई व्यवस्थित अध्ययन–अध्यापन हो उसे अच्छा होने के लिए यह जरूरी है कि वहां पढ़ रही बच्ची बाहर आते ही विद्यार्थी बन जाए। मैंने जान–बूझकर उल्टा लिखा है। हम बच्ची को स्कूल में विद्यार्थी और स्कूल के बाहर बच्ची मानते हैं। अच्छी शिक्षा वह है जहां उसके बचपन को संस्था में पूरी तरह स्वीकार किया जाए, उसके बचपन की इज्जत करते हुए शिक्षा हो और संस्था से बाहर निकलने के बाद भी वह बच्ची हो और विद्यार्थी हो।

इसलिए अच्छी शिक्षा का दूसरा गुण होगा– बच्ची और विद्यार्थी को विभाजित न किया जाए। ऐसी शिक्षा जो शिक्षण संस्था में बच्ची और विद्यार्थी की अविभाजिता को स्वीकार करे, अच्छी शिक्षा होने के

एक पहलू को पूरा करती है। यदि वहां दी जा रही शिक्षा ऐसी है कि बच्ची संस्था से बाहर निकलने के बाद भी बच्ची और विद्यार्थी की अविभाजिता में पूरी डूबी हुई जिंदगी गुजारती है तो अच्छी शिक्षा के दूसरे पहलू की भी पूर्ति हो जाती है। यदि स्कूल में शिक्षा दी जाती है और बाहर जाते ही शिक्षा की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो वह शिक्षा अच्छी कदापि नहीं हो सकती। केवल संस्था के अंदर दी जाने वाली शिक्षा की गुणात्मकता का आकलन करना भ्रामक और अपूर्ण है।

यदि बच्ची के बचपन को ध्यान में रखा जाता है तो शिक्षा एक शुष्क बौद्धिक क्रिया या प्रक्रिया नहीं हो सकती। उसमें स्नेह, वात्सल्य और देखभाल का सशक्त पुट अनिवार्य है। अच्छी शिक्षा बौद्धिक से अधिक भावनात्मक प्रक्रिया है, भावनाओं का, दिल का मिलन है। जब क्रिया–आधारित या खेल–खेल में शिक्षा की पद्धति की वकालत की जाती है तो उस दृष्टिकोण में इस शुष्क बौद्धिक प्रक्रिया को आनंददायक बनाने का इरादा ही व्यक्त होता है। कड़वी चीज को गुड़ में मिलाकर देने की रणनीति प्रकट होती है। दरअसल ऐसा करना अच्छी शिक्षा की आत्मा के सार को नजरअंदाज करना है। इसका सार है– प्रेम की अजस्त्र धारा का निरंतर प्रवाह, शिक्षा के दोनों सहभागी–शिक्षक और विद्यार्थी के बीच आजन्म भावनात्मक रिश्ता कायम करता है। शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात 1:30 या 1:20 करने के पीछे जो तर्क दिए जाते हैं, वे सतही हैं मेरी राय में। उसका मुख्य आधार, प्रेमपूर्ण मधुर भावनात्मक संबंध के रूप में होना चाहिए।

जिन शालाओं में स्नेहसिक्त मधुर वातावरण में गतिविधियों या खेलों का सहारा लेकर सीखने की प्रक्रिया चलती है वहां शिक्षा, शाला की सीमाओं से बाहर निकलते ही रुक नहीं जाती। क्योंकि प्रेम और माधुर्य दीवारों के रोके नहीं रुकते, फौलादी बाधाओं को भी सहजता से पार कर लेते हैं। जीवन के हर पल, हर कदम पर, हर अनुभव से सीखने की मनोवृत्ति के बीज ऐसे वातावरण में ही बोए जाते हैं। ऐसे में ही वे पनपते हैं, पल्लवित–पुष्पित होते हैं। संस्थागत औपचारिक शिक्षा, संस्था के बाहर की अनौपचारिक शिक्षा, औपचारिकेतर शिक्षा की विभाजक रेखाएं लुप्त हो जाएं तभी अच्छी शिक्षा होगी। ऐसे में स्कूल रूपी पिंजड़े में बंद शिक्षा उन्मुक्त आसमान में अनंत अंतरिक्ष तक और उससे भी आगे, अनायास उड़ने लगे तभी वह अच्छी शिक्षा होती है।

औपचारिक होमवर्क (गृहकार्य) न देना अच्छी शिक्षा की अगली अनिवार्य शर्त है। घर में माता–पिता, भाई–बहिन, दादी–दादा, नानी–नाना के साथ रहते हुए जो सीखा जा सकता है, उसके महत्त्व को कम आंकते हुए, स्कूल में सीखी बातें और कौशल को आगे बढ़ाने या अभ्यास के लिए काम सौंपना, खराब शिक्षा का लक्षण है। वह शिक्षा की संकुचित दृष्टि का परिचायक है। ''पिंजड़ा'' के अपने रूपक को आगे बढ़ाते हुए यह स्पष्ट करना चाहूंगा कि मेरी समझ में स्कूल का भौतिक स्वरूप ही पिंजड़ा नहीं हैं वरन् उसकी अवधारणा में शामिल हर तत्त्व शिक्षा को कैद करने की सलाखें हैं। 'होम वर्क' की अवधारणा और प्रथा तो निर्धारित पाठ्यक्रम की उपज है। यह भी शिक्षा की चिड़िया को न उड़ने देने का एक बंधन, सलाख है। यह मानना कि पाठ्यक्रम में जो है उसे सीखना 'शिक्षा' है और उसके बाहर की चीजें सीखना 'शिक्षा' नहीं है। खराब शिक्षा, कैदी शिक्षा की अवधारणा का अंग है। अच्छी शिक्षा वह है, जो पाठ्यक्रम की कृत्रिम विभाजक रेखाओं को मिटा दे। हर सीख को शिक्षा का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंश माने, जितना पाठ्यक्रम के अंदर की सीख। इस दृष्टि से, पाठ्यक्रम का निर्धारण नहीं होना चाहिए। जरूरत के मुताबिक, प्रसंग और अपने आप आने वाले अनुभवों और घटनाओं के जरिए वह सब सीखा जा सकता है, जो पाठ्यक्रम के निर्धारण के जरिए प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। पाठ्यक्रम से मुक्ति अच्छी शिक्षा का अगला लक्षण है। निर्धारित पाठ्यक्रम से मुक्ति के साथ ही, गृहकार्य की सही परिभाषा भी की जा सकती है। इस संदर्भ में जमीन से जुड़े शिक्षाविद् स्वर्गीय श्याम बहादुर 'नम्र' याद आते हैं, जिन्होंने पाठ्यक्रम आधारित 'गृहकार्य' की अवधारणा पर व्यंग्य करते हुए सही गृहकार्य की महिमा का प्रतिपादन किया था। गृहकार्य का तात्पर्य है और होना चाहिए, घर के दैनन्दिन के काम में सहभागिता करते हुए दक्षता हासिल करना। कुछ स्कूल लिंग–भेद से परे जाकर बच्चों को पाक कला स्कूल में सिखाने में गौरव महसूस करते हैं, पर यह कभी नहीं देखते–सोचते कि घर में खाना बनाना सीख लेना और बनाते रहना बेहतर गृहकार्य है। घर में झाड़ू पोंछा कर लेना भी अच्छा गृहकार्य है। श्रम की प्रतिष्ठा की सीख भी देता है गृहकार्य। मेरी अच्छी शिक्षा में घर के हर काम को सीख लेना और करते रहना एक लक्षण है।

पाठ्यपुस्तकों के बंधन से मुक्ति को पाठ्यक्रम से मुक्ति के तार्किक परिणिति के रूप में देखा जा सकता है। पाठ्यपुस्तक ज्ञान, विचार, सोचने समझने की क्षमताओं और दायरे को बहुत संकुचित कर देती है। व्यक्तिगत अनुभव को तर्कसंगत आधार मानने की भूल मैं नहीं कर सकता। साथ ही, उसे पेश करने के लोभ का संवरण भी नहीं कर पा रहा हूं। स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय की पढ़ाई के दौरान मैंने 10 प्रतिशत समय पाठ्यपुस्तकों को दिया और 90 प्रतिशत इतर पुस्तकों को जिसमें उपन्यास, कहानियां, कविताएं, नाटक, यात्रा–वृत्तांत आदि सभी विधाएं शामिल हैं। जीवन में अपनी उपलब्धियों का श्रेय इन्हीं इतर पुस्तकों को देता हूं। मेरी तरह और कई लोगों को जानता हूं, जो पाठ्यपुस्तकों की गीता, बाइबिल, कुरान की तरह स्थापित महिमा की हेठी करने की वजह से ही जीवन में कुछ कर पाए। जहां पाठ्यपुस्तकों का महिमामंडन न हो, जहां उन्हें चुनौती देने की मनोवृत्ति और साहस दिया जाए और इसे आदत बना दी जाए, वहां अच्छी शिक्षा का वास होता है।

जो शिक्षक पाठ्यपुस्तक की सीमाओं को लांघकर विद्यार्थियों को अपने साथ उन्मुक्त अनंत आकाश में ले उड़ता है, वह अच्छी शिक्षा का सूत्रधार है।

इस सिलसिले में मुझे हरिवंशराय बच्चन याद आते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के एक संग्रह की भूमिका में अपनी कविताओं को पाठ्यपुस्तकों में शामिल किए जाने पर नाराजगी व्यक्त की थी। उनका मानना था कि पाठ्यपुस्तकों में विवशता से उनकी रचनाओं को पढ़ने की बाध्यता के कारण विद्यार्थी उनकी अन्य

रचनाओं से विमुख हो जाते हैं और उन्हें पाठकों की कमी का सामना करना पड़ा है। उनकी समझ है कि जितने वे पाठ्यपुस्तक से बाहर रहे, उतने ही वे अधिक लोकप्रिय रहे, उनकी किताबें अधिक संख्या में बिकीं।

सार यह है कि पाठ्यपुस्तकों के बाहर के अनंत रचना–संसार से जोड़ने वाली शिक्षा अच्छी शिक्षा है।

मनोवैज्ञानिकों और शिक्षाविदों द्वारा लगभग एकमत से यह राय रखने के बावजूद कि हर व्यक्ति की सीखने की गति, ढंग, माध्यम और विषय–वस्तु में बहुत भिन्नता होती है, सब विद्यार्थियों से प्रतिवर्ष, हर विषय में एक निश्चित प्रगति और उपलब्धि की अवैज्ञानिक मांग, एक और पिंजड़ा या बंधन है जिससे मुक्ति अच्छी शिक्षा का अगला लक्षण है। जब हर बच्ची अपनी मर्जी से अपनी रुचि के अनुसार अपनी रफ्तार से अपना चुकी चीजें पढ़ सके, लिख सके, सीख सके तो मैं मानूंगा कि वह शिक्षा की उड़ती चिड़िया में सवार होकर अंतरिक्ष की सैर पर निकली है। इस तरह की बंधनहीन शिक्षा ही अच्छी शिक्षा है। प्रतिदिन शाला आने की अनिवार्यता भी एक पिंजड़ा है, सलाखें हैं, बंधन है। यदि जिंदगी के हर पल, हर जगह सीखने के लायक बच्ची है तो दीवारों के बीच की कक्षा में सीखने की बाध्यता ही क्यों रहे? क्यों न सीखने वाले को निर्णय करने दिया जाए कि कब, कहां, क्या कैसे सीखना चाहता है। पाठशाला जिस सीख के लिए और उपयुक्त है उसके लिए तो विद्यार्थी स्वयंमेव खिंच कर चला आएगा। पाठशाला को अपनी उपयोगिता, उपादेयता और आकर्षण को सिद्ध करना और स्थापित करना चाहिए। बाध्यता के भरोसे पाठशालाएं नहीं चलानी चाहिए। अच्छी शिक्षा वह है जहां बच्चे मर्जी से पाठशाला जाएं, मजबूरी से नहीं।

अच्छी शिक्षा वह है जिसमें अच्छी तरह से सीखना विद्यार्थी के हित में है और विद्यार्थी यह जानता समझता है। इसलिए वह स्वयं अपने सीखने की गुणात्मकता का आकलन करता है, अपना स्वयं मूल्यांकन करता है बेहतर जानने, सीखने के उद्देश्य से हर आकलन के बाद अधिक परिश्रम करती है, सीखने के नए तरीकों एवं रणनीतियों को अपनाना चाहती है, अपनी भूलों, गलतियों, अशुद्धियों को सुधार कर आगे बढ़ना चाहती है। वह अपने मूल्यांकन से संतुष्ट न हो तो अपने साथियों या शिक्षकों से भी मदद ले सकती है। मुख्य बात है कि अपना मूल्यांकन, स्वयं चाहती है, अपने हित में मानती और समझती है।

शिक्षक, परीक्षक, निरीक्षक विद्यार्थी का मूल्यांकन करना जरूरी समझते हैं। पर विद्यार्थी उससे डरती है, परेशान होती है। येनकेन प्रकारेण, परीक्षक के आंखों में धूल झौंककर भी यदि यह जरूरी हो जाए तो अपने को सफल सिद्ध करना चाहती है। अधिकतम अंक प्राप्त किया हुआ बताना चाहती है तो वह खराब शिक्षा है। ऐसी शिक्षा अच्छी कदापि नहीं हो सकती। अपने लिए नहीं वरन् दुनिया को दिखाने के लिए जहां सफलता, अच्छे अंक, अच्छी श्रेणी प्राप्त करने की इच्छा हो, वह अवश्यमेव अच्छी शिक्षा नहीं है।

इसका एक पहलू और है। मूल्यांकन के जरिए अपने ज्ञान, अपनी योग्यता को जान, उसमें सुधार की उत्कृष्ट इच्छा का होना अच्छी शिक्षा का लक्षण है। मूल्यांकन के जरिए दूसरों से तुलना करना, उनसे बेहतर होने की कोशिश करने के लिए प्रेरणा पाना दोयम दर्जे की शिक्षा का लक्षण है उत्तम शिक्षा का नहीं।

यहां मूल प्रश्न यह है कि शिक्षार्थी के बजाए शिक्षा नियम (जिसमें शिक्षक, शिक्षा प्रशिक्षक, नीति–निर्माता, माता–पिता और सारा समाज शामिल है) परीक्षा, विद्यार्थी के मूल्यांकन और उनके आपस की तुलना में दिलचस्पी क्यों रखते हैं और उसे क्यों जरूरी समझते हैं? यह एक विचारणीय मसला है, जिसे हमें समझना होगा।

उद्देश्य आधारित शिक्षा

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा नियंताओं की मुख्य दिलचस्पी और जिम्मेदारी मूल्यांकन में है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि शिक्षा के

उद्देश्यों का निर्धारण उनके द्वारा किया जाता है। हमने प्रारंभ में ही अच्छी शिक्षा के विविध रूप होने का जिक्र किया था। यहां 'अच्छी' का मतलब पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति से होता है, वहां उद्देश्यों की भिन्नता के आधार पर शिक्षा के विभिन्न मायनों में भी भिन्नता होगी। आज्ञापालक व्यक्ति बनाने के उद्देश्य से रचित शिक्षा, विद्रोही पैदा करने वाली शिक्षा से कई मायनों में भिन्न होगी।

संसार भर में आज प्रचलित संस्थागत औपचारिक शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा नियंता द्वारा डिजाइन की गई है। इसमें उद्देश्य कथन स्पष्ट रूप से किया जाता है। इस तरह के कथन में उपयोग किए गए अलंकारिक मुहावरे, घुमावदार अभिव्यक्तियों के तह में जाए, तो केवल दो मुख्य श्रेणी के उद्देश्य नजर आएंगे। एक तो, विद्यमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का पोषण है जिसमें उच्चतम स्थान पाने की योग्यता को विकास के कुछ लच्छेदार मुहावरों में रखा जाता है। निर्विवाद सार यह है कि उसकी यथास्थिति को बनाए रखना है और विद्यार्थी को उसमें फिट होने लायक बनाना है।

दूसरी श्रेणी के उद्देश्य में, आज की स्थिति से असंतोष पैदा कर, एक नए भिन्न मूल्यों पर आधारित बेहतर सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक व्यवस्था के लिए विद्यार्थी को तैयार करने का आग्रह होता है।

पहली श्रेणी के उद्देश्य के लिए अच्छी शिक्षा होगी यदि समाज के लिए उपयोगी सदस्य, अच्छे नागरिक और अर्थव्यवस्था में अच्छे रोजगार पा सकने वाले लोग निकलते रहें। व्यावसायिक तकनीकी और प्रोफेशनल शिक्षा में बुनियादी उद्देश्य यही होता है। वहां भी नवाचार और मौलिकता पर आग्रह होता है पर स्पष्टतः वह आज के ढांचे के दायरे के अंदर ही होता है। आज विश्वभर में इसी का बोलबाला है। भारतीय विश्वविद्यालय आयोग द्वारा उदार शिक्षा– बी.ए., बी. एससी. जैसे पाठ्यक्रमों के बजाए रोजगारपरक पाठ्यक्रमों पर जोर देने की नीति को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। आज की व्यवस्था में निहित अन्याय और असमानता की कुरूपता को हर विद्यार्थी को बेहतर अवसर उपलब्ध कराने के वादे और संभावना के आकर्षक मुखौटे के नीचे ढंक दिया जाता है। भू–मंडलीकरण की विश्वव्यापी प्रवृत्ति का पोषण आज इस श्रेणी के उद्देश्य द्वारा हो रहा है। यह वही व्यवस्था है जिसमें ऑक्सफेम के अध्ययन के अनुसार विश्व के केवल एक फीसदी परिवारों के पास संसारभर के 46 फीसदी लोगों के बराबर सम्पत्ति है।

इस विरूपता और विसंगति को छिपाने के लिए सारी शिक्षा व्यवस्था में दूसरी श्रेणी के उद्देश्यों को भी शामिल कर लिया जाता है।

इस श्रेणी में न्याय, समानता जैसे आदर्शों की दुहाई दी जाती है। दूसरी श्रेणी के उद्देश्यों में आज की व्यवस्था को चुनौती देते हुए एक बेहतर समाज की स्थापना के लिए शिक्षा की रचना का दावा किया जाना बिरला ही है।

दोनों प्रकार के उद्देश्यों में यथास्थिति बनाए रखने और बदलाव का मिश्रण आम बात भी है और भ्रामक भी। किसी भी शिक्षा व्यवस्था के असली उद्देश्यों का पता तो उसकी कार्यरत व्यवस्था से चलता है। इसको समझने का एक निर्णायक मापदंड है, उसकी मूल्यांकन व्यवस्था। जिस मूल्यांकन पद्धति में केवल जानकारी या ज्ञान या विचार–शक्ति की परीक्षा हो वह स्पष्टतः नए मूल्यों वाले समाज–रचना से कोई संबंध नहीं रखती। भारतीय शिक्षा व्यवस्था की मूल्यांकन पद्धति यही है। पर भारत इस मायने में अकेला नहीं है। विश्व के उन एक प्रतिशत जैसे लोगों के अदृश्य इशारों से, जो विश्व के 46 प्रतिशत लोगों के बराबर सम्पत्ति रखते हैं, लगभग सारी दुनिया की शिक्षा व्यवस्था यथास्थितिवादी हो गई है।

इस हालत में आज अच्छी शिक्षा का एक ही अर्थ है– आज के समाज और अर्थव्यवस्था में बेहतर से बेहतर स्थान पाने लायक बन जाना, परीक्षा के अंकों और

श्रेणियों का खेल इसी उद्देश्य में आकर सिमट गया है। ऐसी स्थिति में अच्छी शिक्षा के विविध रूप होने की संभावना की चर्चा जो प्रारंभ में हुई थी उसे सैद्धांतिक वास्तविकता के रूप में ही देखा जाना होगा। आज की ठोस धरातल की वास्तविकता में अच्छी शिक्षा के इंद्रधनुषी रंग, व्याकुल करने वाली ग्रीष्मऋतु की सूर्य की किरणों में ही बदलकर रह गई हैं। अच्छी शिक्षा सोने के पिंजड़े में बंद होकर छटपटा रही है, फड़फड़ा रही है। अच्छी शिक्षा की चर्चा में विचारवान लोग उसे इस दयनीय हालत में छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकते। उसे खुले आसमान में विचरते हुए इंद्रधनुषी रंग से तादात्म्य होने के लिए स्वच्छंद करना होगा।

किसी भी शिक्षा पद्धति या शिक्षा व्यवस्था से शिक्षित सभी विद्यार्थी एक से नहीं होते, उनमें बड़े पैमाने पर भिन्नता होती है। इतना ही क्यों मुझे यह स्वीकार करने में भी कोई हिचक नहीं है कि एक ही संस्था से, उन्हीं शिक्षकों द्वारा पढ़े–लिखे विद्यार्थी भी एक सांचे में ढले, एक आकार–विचार, मानसिकता, आदर्शों से प्रेरित, आकांक्षाओं के लिए प्रयत्नशील नहीं होते। इन्हें परस्पर विरोधी बयान भी माना जा सकता है। विरोधी बयान को इतनी सहजता और खुले दिल से मान लेने के बाद भी मैं अपने उत्तेजक सख्त बयान पर कायम हूं। उसे सरासर गलत मानने वाले कृपया, थोड़ा धैर्य रख आगे पढ़ने का कष्ट भी कर लें। मेरी इस दृढ़ता का औचित्य और आलोचकों को भी स्वीकार होने लायक तर्क मैं पेश कर रहा हूं।

सर्वप्रथम मैं यह स्पष्टीकरण दे दूं कि 'शिक्षा व्यवस्था ऐसी होती है', यह कदापि नहीं कह रहा हूं। मैं तो केवल नियंताओं की मंशा स्पष्ट कर रहा हूं। जिस सीमा तक ऐसा नहीं हो पाता वह उनकी असफलता है। यह असफलता कई कारणों से होती है जो कि आगे स्पष्ट होंगे।

पहला कारण व्यवस्था की अपूर्णता है। व्यवस्था का अर्थ ही है अव्यवस्था– उपद्रव को मिटाने के लिए सीमाओं का निर्धारण करना, एक पथ का, पद्धति का, तरीके का, जिसमें हर बार वही और उसी तरह हो। अव्यवस्था को नियंत्रित करने का अस्त्र है व्यवस्था। शिक्षा के संदर्भ में देखें तो एक बालक के मनमर्जी से सीखने, जब चाहें तब सीखने की अव्यवस्था को एक पाठ्यपुस्तक, एक संस्था, प्रोफेशनल शिक्षक, निर्धारित समय, गति, सोपानों (कक्षा) और फिर पूर्व निर्धारित परीक्षा के जरिए सर्टिफिकेशन जैसे अस्त्रों द्वारा व्यवस्थित करने की कोशिश नहीं है तो क्या है? इस अर्थ में क्या व्यवस्था के उद्देश्य को नियंत्रण का उद्देश्य कहना अनुचित या असंगत है? जहां व्यवस्था हुई वहां नियंत्रण की कोशिश है; चाहे प्रत्यक्ष हो या प्रच्छन्न। हम इसे इंसानों का सौभाग्य या अयोग्यता कहें कि हमारे द्वारा निर्मित कोई भी व्यवस्था संपूर्ण या त्रुटिविहीन नहीं होती। प्रबंधन वैज्ञानिक जो केवल इन्हीं उद्देश्यों में शोध और अध्ययन केंद्रित करते हैं, वे इस चुनौती की सफलता से सामना नहीं कर पाए।

दूसरा कारण है शिक्षा व्यवस्था का संकुचित दायरा। विद्यालय मात्र कुछ घंटे हमारी (विद्यार्थी की) जिंदगी को प्रभावित, निर्धारित और नियंत्रित कर सकते हैं। लेकिन उसकी शिक्षण संस्था में और रूढ़ अर्थ में घर पर गृहकार्य करने और ट्यूशन, कोचिंग कक्षाओं में जाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, मेरे लिए चिंताजनक है। क्योंकि इसके जरिए विद्यार्थी अपनी जिंदगी को और अधिक नियंत्रण में स्वेच्छा से देता है। स्वेच्छा से कहना तो गलत होगा, वास्तव में वह परीक्षा की प्रतियोगिता में होने के दबावों के कारण ऐसा करता है।

सच कहा जाए तो परीक्षा नियंत्रण का सबसे सफल अस्त्र सिद्ध हुआ है। मैं मित्रों के बच्चों को पाठ्येतर पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रेरित करता रहा हूं। ताकि वे शिक्षा व्यवस्था की जकड़न से किसी सीमा तक मुक्ति पा सकें। इसमें मेरी सफलता काफी सीमित और निराशाजनक रही है।

परीक्षा के कठोर दूरगामी बंधन के चलते न बच्चे पुस्तकों को पढ़ने को तैयार थे न उनके माता–पिता। प्रोत्साहन तो दूर की बात, इजाजत ही नहीं देते थे।

इसका मतलब इतना ही होता है कि विद्यार्थी का अनुभव पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के साथ संस्था की कक्षाओं, ट्यूशन तथा कोंचिंग कक्षाओं के सीमित दायरे में सिमट कर रह जाता है। सौभाग्यवश शेष समय के अनुभव को हमारी शिक्षा व्यवस्था नियंत्रित नहीं कर पाती। टेलिविजन, रेडियो, पास–पड़ोस, मित्रों अन्य बुजुर्गों, फिल्मों, नाटकों जैसे अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों से विद्यार्थी क्या सीखते हैं, किस तरह के अनुभव प्राप्त करते हैं, यह शिक्षा के नियंत्रण में न होने की वजह से शिक्षानियंता विद्यार्थियों को पूरी तरह मानसिक गुलाम बनाने के उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते।

तीसरा कारण, इंसान के व्यक्तित्व के निर्माण में आनुवंशिकी की जो भूमिका होती है वह शिक्षा व्यवस्था के नियंत्रण के परे है।

चौथा कारण है, मनुष्य की प्रकृति में अंतर्निहित स्वतःस्फूर्त पहल करने का गुण। दार्शनिकों ने कई शताब्दियों से इंसान की स्वतंत्र इच्छाशक्ति के रहस्य को समझने की कोशिश की है। यह विवाद अभी भी बरकरार है कि किस सीमा तक एक व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति से पहल करता है, कर्म करता है और उसका फल–सकारात्मक और नकारात्मक और किस सीमा तक वह जो भी करता है, वे पूर्व निर्धारित हैं। यह तो लगभग सर्वमान्य है कि स्वतंत्र इच्छाशक्ति का कुछ न कुछ दायरा है। कुछ लोग इसे बहुत असीम मानते हैं तो कुछ बहुत संकुचित। पूर्व जन्म और कर्मबाध्यता पर विश्वास करने वाले भी इसके अस्तित्व से इंकार नहीं करते। इस स्वतंत्र इच्छाशक्ति के चलते, शिक्षा नियंता अपनी ओर से कितनी भी अच्छी व्यवस्था करें, इस रहस्यमय अस्तित्व को न तो समझ पाते हैं और न ही नियंत्रित कर पाते हैं। परिणामस्वरूप बहुत सूझ–बूझ और अत्यंत कुशलता से रची गई शिक्षा व्यवस्था भी पूरी तरह विद्यार्थी को रोबोट बनाने में कामयाब नहीं होती।

पांचवा कारण, मनुष्यों के मनोविज्ञान को समझने और प्रभावित करने के तरीकों की आज की हमारी अज्ञानता है। हम अभी भी नहीं जानते हैं कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करने वाले कितने असंख्य तत्व हैं। उनमें से कौन से बहुत प्रभाव वाले हैं और कौन से कम। किस तरह के तत्व एक–दूसरे के प्रभावों को नकारते हैं। इतना ही नहीं, ये तत्व शिक्षा व्यवस्था बनाने वालों के नियंत्रण में भी नहीं हैं। किसी व्यक्ति के आदर्श, आकांक्षाओं, मनोवेगों, रागात्मक प्रवृत्ति, दृष्टिकोण, विश्वदृष्टि और चरित्र को अपनी इच्छा के अनुसार ढालने के लिए आवश्यक ज्ञान और कौशल को मानवजाति अभी तक समझ नहीं पाई है। इसीलिए शिक्षण संस्थाएं केवल जानकारी या ज्ञान पर जोर देती हैं। यह मनुष्य को एकरूप, एक सांचे में ढले हुए बनाने की प्रवृत्ति का विरोध करने वाले, हम जैसे लोगों के लिए विचाराधीन ही है। मनोविज्ञान और उससे संबंधित शास्त्र अभी अपूर्ण और अधूरा है। उनकी कोशिशें चल रही हैं। इस रास्ते में और अधिक प्रभावी ज्ञान और तौर–तरीके हासिल किए जाएं। छठवां, विवादास्पद कारण– विभिन्न विचारधाराओं और दृष्टि रखने वाले लोगों का शिक्षा को अपने नियंत्रण में लेने के लिए आपस में विवाद और संघर्ष में निरंतर लगे रहना है। राजनैतिक दल अपने राजनैतिक दर्शन और विचारधारा के अनुकूल शिक्षा व्यवस्था बनाना चाहते हैं। चूंकि राजनैतिक दलों की प्रभावशक्ति में बदलाव होता रहता है इसलिए किसी भी एक समय में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था, विभिन्न राजनैतिक दर्शनों के एक अजीब मिश्रण से प्रभावित होती है। इसी तरह शिक्षाविदों के दर्शन और दृष्टि में भी व्यापक बहुलता है। जिसकी वजह से जो वास्तविक प्रभाव शिक्षा व्यवस्था पर पड़ता है वह किसी एक का न होकर एक प्रकार के समझौते का मिश्रण होता है। सच कहा जाए तो शिक्षा व्यवस्था के नियंत्रण के कई आयाम स्तर, सोपान एवं पहलू हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाने वाले शिक्षा व्यवस्था को अपने ढंग से प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। राष्ट्रीय पाठ्यक्रम का ढांचा बनाने वाले अपने ढंग से। इसी तरह पाठ्यक्रम बनाने वाले,

पाठ्य पुस्तक बनाने वाले, शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाले शिक्षक, शिक्षा प्रशासक सब अपने–अपने स्तर पर अपने–अपने ढंग से शिक्षा व्यवस्था पर प्रभाव डालने में लगे रहते हैं। इस तरह ये सभी नियंता की श्रेणी में आते हैं। किसका कितना नियंत्रण है, यह नाप लेना या जान लेना भी अत्यंत कठिन है। चूंकि शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित और नियंत्रित करने में लगे हुए ये सब लोग एक–दूसरे के साथ नहीं हैं, बल्कि कई श्रेणियों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में आपस में विरोधी हैं, इसलिए किसी एक की मंशा सफल नहीं हो पाती। सार यह है कि शिक्षा व्यवस्था नियंत्रण करने के लिए गढ़ी जाती है, पर वे उसमें सफल नहीं हो पाते। यह तो अच्छी बात है।

इसे सरलता से दूसरे ढंग से भी व्यक्त किया जा सकता है। वयस्कों द्वारा बच्चो को अपने ढंग से सीखने या विकसित होने का अवसर न देना। वयस्कों की मर्जी के मुताबिक विकसित करने के प्रयास का अस्त्र, शिक्षा व्यवस्था है।

प्रगतिशील शिक्षा विचारक और शिक्षाविद् यद्यपि यह दावा करते हैं कि वे विद्यार्थियों को अपने ढंग से सीखने और ज्ञान अर्जन करने के पक्षधर हैं, परंतु वास्तविकता में यह बात केवल शिक्षण पद्धति (पेडागॉजी) तक ही सीमित रह जाती है।

निःसंदेह हर बच्चे को अपने ढंग से, अपने परिवेश में, अपने अनुभव में जो आए, उसे वह जिस तरह, जब सीखना चाहे, सीखने के लिए उसे चिड़िया की तरह खुला नहीं छोड़ा जा सकता। उसी तरह दूसरी ओर एक पूरी नियंत्रित और बाध्यकारी या बंधनकारी शिक्षा व्यवस्था जिसके खिलाफ यह लेख है, को भी बिल्कुल नकारा नहीं जा सकता।

यक्ष प्रश्न यह है कि कौन सी शिक्षा अच्छी हो सकती है? वह शिक्षा जो पिंजड़े में बंद भी न हो और जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यक्ति के स्वतःस्फूर्त प्रस्फुटन, विकास, जिज्ञासा, मौलिकता, रचनात्मकता को विभिन्न प्राचीरों में कैद न करे। परंतु साथ ही पूरी तरह अव्यवस्था की गोद में भी न छोड़ दे। वह लचीली शिक्षा जो बच्चों को उड़ती चिड़िया की तरह मुक्त कर दुनिया और अपनी जिंदगी में स्वच्छंद विचरण की मनोवृत्ति, कौशल, इच्छा और शक्ति दे। केवल एक संकुचित पक्ष का निर्धारण न करे। इस यक्ष प्रश्न का उत्तर हम तभी दे सकते हैं जब हम आज की शिक्षा व्यवस्था को उसके नियंत्रण की मंशा के चलते नकार दें और एक लचीले शिक्षा संसार की रचना करें। इस शिक्षा संसार का सपना वे सब देख सकते हैं जिन्होंने ध्यान और बारीकी से विद्यमान शिक्षा व्यवस्था के द्वारा खड़ी की गई अभेद्य प्राचीरों को समझा हो और स्वीकार किया हो। मेरा भी दीवारविहीन इस खुले शिक्षा संसार का सपना है जिसकी झलक किसी सीमा तक इस लेख में है।

शरद चन्द्र बेहार : सेवानिवृत्त पूर्व मुख्य सचिव, मध्यप्रदेश सरकार। वर्तमान में भारतीय शिक्षा संस्थान, पूना के अध्यक्ष हैं।

गुणात्मक शिक्षा एक द्वंद्व

हृदय कांत दीवान

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा : सामान्य समझ

सामान्य तौर पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का अर्थ ऐसी शिक्षा से लगाया जाता है जो रटने से दूर ले जाती हो। यह कहा जाता है कि अच्छी शिक्षा यानी वह जानकारी आधारित न हो बल्कि अवधारणाओं की समझ पर केंद्रित हो। हालांकि इसमें क्षमताओं का विकास करना भी जोड़ा जाता है, किन्तु इन क्षमताओं में क्या शामिल है और किस प्रकार से शामिल है, इसमें कुछ भ्रम दिखते हैं। अक्सर यह पता नहीं चल पाता कि इन क्षमताओं के बारे में सोचने वाले व्यवहार में इनका जुड़ाव, अवधारणा विकास से करते हैं अथवा जानकारी से। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए एक और प्रचलित प्रमुख शब्दावली है– शिक्षक व पुस्तक केंद्रित के स्थान पर 'बाल केंद्रित शिक्षा'। इस बाल केंद्रित शब्द के तात्पर्य के भी कई स्वरूप दिखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की इस व्याख्या में और इस जैसी कई और शब्दावलियों में आज की शिक्षा में जो नहीं दिखाई देता, उस कमी को रेखांकित करते हुए उसके विकल्प को गढ़ा जाता है।

ऐसे में अक्सर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के बुनियादी आधार पर विचार न होकर कुछ सतही मसलों पर ध्यान केंद्रित हो जाता है। एक तरह से यह समझा जाता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मतलब आज की शिक्षा का विकल्प याने जो आज नहीं हो रहा है, उसे संभव बनाना। इस धारणा में 'नवाचार' शब्द भी बहुत प्रमुख है। अच्छी व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की एक परिभाषा मात्र 'नवाचारी शिक्षा' भी है, याने ऐसा कुछ होना आवश्यक है जिसमें पहले से कुछ भिन्न हो। शिक्षा से संबंधित हर योजना और हर बजट में नवाचार के लिए जगह रखी जाती है।

एक और व्याख्या 'गतिविधि आधारित शिक्षण' की है। यह अलग है कि अंग्रेजी में 'लर्निंग' शब्द है जो हिंदी में शिक्षण बन जाता है। इस तरह की व्याख्या में इन गतिविधियों के स्वरूप व गुण की समझ पर स्पष्टता की आवश्यकता तो होती ही है जिसमें सबसे पहले 'सीखने' व 'शिक्षण' के बीच के अंतर को समझना उपयोगी होगा। वैसे इस स्पष्टता को व्यक्त करने के लिए कई तरह के एक शब्दी रूपक उपयोग में लाए जाते हैं। जैसे गतिविधि जिसमें सहभागिता हो, हर स्तर का बच्चा शामिल हो सके, रोचकता हो, मजा हो आदि। इस व्याख्या में यह भी जुड़ा है कि सीखने में सभी कक्षाओं व प्रत्येक कक्षा में बैठने वाले सभी स्तर के बच्चे शामिल हो पाएं। गतिविधि आधारित शिक्षण की शब्दावली अलग–अलग नामों से और अलग–अलग प्रकार से काफी प्रचलित हुई है। देश भर में असंख्य प्रशिक्षण, गतिविधि आधारित शिक्षण को प्रसारित करने के लिए आयोजित किए जाते रहे हैं। गतिविधि आधारित शिक्षण की विभिन्न व्याख्याओं में गहरे मतभेद भी हैं। किसे गतिविधि मानेंगे और उसके गुण क्या होंगे? इसी तरह यदि गतिविधि के 4–5 प्रमुख गुण भी मान लें तो भी इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कौन से हैं? यदि सीखने–सिखाने के लिए इन गुणों वाली गतिविधि का निर्माण न किया जा सके तो क्या वह विषय ही न पढ़ाएं? कौन–सी कक्षा तक गतिविधि होगी? आदि।

एक और शब्दावली में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा को 'रचनावादी' अथवा 'निर्माणवादी' स्वरूप देना समझा जाता है। यह माना जाता है कि एन.सी.एफ.–2005 इसी निर्माणवादी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की वकालत कर रहा है। इस दृष्टिकोण में यह अर्थ सामान्य तौर पर निकलता है कि हर बच्चा अपने ज्ञान का स्वयं निर्माण करता है, हर बच्चा विलक्षण है और इसलिए उसे न सिर्फ व्यक्तिगत ध्यान की जरूरत है वरन् उसे अपने तरीके से सीखने का मौका मिलना चाहिए, इसे प्रदान करना स्कूल व कक्षा की जिम्मेदारी है। निर्माणवाद की सतही समझ, चूंकि यह अर्थ देती है, इसलिए कोई भी बच्चा गलत नहीं समझा जा सकता। मतलब जो भी बच्चे ने उत्तर दिया, वह उसके दृष्टिकोण से सही है। वैसे रचनावादी/निर्माणवादी शिक्षा की वकालत करने वालों में भी कई धाराएं हैं। एक धारा तो स्कूल में पाठ्यक्रम निर्माण, पाठ्यपुस्तक व किसी भी निर्धारित प्रक्रिया अथवा ढांचे को ही नकारती है। इसके अनुसार बच्चों की ज्ञान निर्माण की इच्छा, गति और अनुभव के आधार पर बढ़ना ही ठीक माना जाता है। यह धारा कहीं–कहीं जाकर बाल केंद्रित शिक्षा से भी जा मिलती है।

शिक्षा की गुणवत्ता की कसौटी बनने वाले और बनाए जाने वाले इन सब शब्दों में आपस में सामंजस्य है भी और नहीं भी। अक्सर हम लोग चर्चाओं में इनको एक–दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल करते ही हैं। यह इसलिए भी है क्योंकि ये शब्द अलग–अलग तरह से व्याख्यायित किए जा सकते हैं। इन व्याख्याओं में बहुत से पहलू छिप जाते हैं और यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किस की व्याख्या से क्या–क्या शामिल हो रहा है। यह भी समझ नहीं आता कि बोलनेवाले ने इन पहलुओं के बार में एकाग्रता से कुछ सोचा भी है या सतही रूप

से ही ये इस्तेमाल हो रहे हैं। एक बात, इन सब में एक जैसी है, वह है कि इनके केंद्र में कुल मिलाकर, कक्षा की प्रक्रिया व कक्षा की सामग्री ही है। हालांकि इन सब शब्दों का अर्थ हमेशा एक सा नहीं रहा है और पिछले चार दशकों में अलग–अलग मिश्रण में इन शब्दों का दबदबा शिक्षा के विमर्श को संचालित करता रहा है।

इनमें से एक–आधी व्याख्या को ही शायद शिक्षा की धारणा से जोड़ा जा सकता है। हालांकि इसे कुरेदने पर इसमें भी समीक्षा के अर्थ व उसके लक्ष्यों में हम बहुत दूर तक नहीं जा सकते। शिक्षा की गुणवत्ता की बात करने से पहले, शिक्षा के अर्थ, स्वरूप व उसके महत्त्व को पहचानने व उसके बारे में सोचने की आवश्यकता है। हमें यह तय करना है कि क्या इसके लिए हमारे पास सोच का एक एकीकृत ढांचा है? ऐसे ढांचे की अनुपस्थिति में, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सीमित होकर टेस्ट अथवा सामग्री की उठा–पटक, खेल, मजा आदि–आदि व परीक्षा के अंकों के मायाजाल में खोकर रह जाएगी।

इस तरह यदि शिक्षा की अवधारणा उसके उद्देश्यों के स्तर पर ही सीमित हो जाती है तो उसका प्रभाव सभी प्रयासों पर पड़ता है। हम इस प्रभाव को, इस तरह के व्यवहार को चर्चाओं में तो अनुभव करते ही हैं, किंतु नीति के स्तर पर भी दिखता है कि शिक्षा की अवधारणा की समझ व उसका अर्थ बदलता रहा है। शिक्षा व्यवस्था के अधिकारी व स्कूली शिक्षक ही नहीं वरन् शिक्षकों को तैयार करने वाले भी समग्र व एकाग्र सोच की बजाए शिक्षा व उसकी गुणवत्ता को सतही और सीमित ढंग से ही देखते हैं। इस चर्चा को व्यापक और गहरा करने की राह में कई प्रयास हुए हैं।

इसी तरह का एक प्रयास बीसवीं सदी के आखिरी दशक में 'न्यूनतम अधिगम स्तर' आधारित था। इस प्रयास का लक्ष्य गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तक पहुंचना था। इसकी कल्पना में शिक्षा, पाठयपुस्तक, प्रशिक्षण, आकलन आदि को समग्र रूप से न्यूनतम अधिगम के अनुरूप बनाना था। इन स्तरों को हर स्कूल में हासिल करवा पाना ही शिक्षा को गुणवत्तापूर्ण बनाना माना गया था। इसमें यह भी कहा गया था कि शिक्षा का मुख्य लक्ष्य जानकारी देना नहीं बल्कि कौशल विकास करना है। इसके चलते पूरे पांच साल की प्राथमिक शिक्षा को कौशलों की छोटी–छोटी शृंखलाओं में बांध कर, यह सुनिश्चित करने के प्रयास की वकालत की गई थी, जिसमें कि सभी बच्चे (कम से कम 80 प्रतिशत) इन कौशलों को तय समय में और तय क्रम से सीख पाएं। जैसा कि पाठ्यक्रम विभाजन, पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षक– प्रशिक्षण, आकलन आदि सभी इसी समझ के आधार पर बनाए जाने थे और बहुत से राज्यों में जोर–शोर से यह प्रक्रिया हुई। इस पूरे प्रयास को बाद में व्यवहारवादी कहा गया और इसकी तीखी आलोचना हुई। इसके चलते, हालांकि नीति के स्तर पर व प्रचलित विमर्श में इसे अच्छा नही माना जाता किंतु यह गहरे में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के साथ शिक्षा में काम करने वाले लोगों के मन में चिपक–सा गया है। क्षमता व कौशल के अर्थ, गतिविधि आधारित शिक्षण के अर्थ व आकलन आदि की शब्दावली इस प्रयास के बाद किंतु काफी भिन्न हो गई। शिक्षा के उद्देश्य व समाज के साथ उसके रिश्ते पर बड़ी चोट लगी। इसके बाद कई प्रयासों में न्यूनतम अधिगम स्तर के अलग–अलग पहलुओं को चुनौती दी गई। इस सब का एक समग्र रूप एनसीएफ 2005 में प्रस्तुत हुआ। 15 वर्षों के अंतराल में भी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की समझ में यह बहुत बड़ा बदलाव था।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के बुनियादी सिद्धांतों में शिक्षा के उद्देश्यों को शामिल किया गया है और इस बात को भी शामिल किया गया

है कि शिक्षा में किस प्रकार का ज्ञान और उसको हासिल करने की कैसी प्रक्रिया इस्तेमाल की जानी चाहिए। शिक्षा के उद्देश्य इस बात से जुड़े हैं कि वे किस–किस तरह के बच्चों के लिए हैं और उसमें किस तरह के समाज की कल्पना निहित है। यह इस बात पर भी निर्भर है कि हम इंसान को व उसके अस्तित्व को किस ढंग से देखते हैं। यह आखरी पहलू, इस बात को भी शामिल करेगा कि ऐतिहासिक दृष्टि व ब्रह्मांड के संदर्भ में हम इंसान को कैसे देखते हैं। इन्हीं में ही वे मूल तत्व निकलेंगे जो हमारे उद्देश्यों को निर्धारित करेंगे। ज्ञान व सीखने के संदर्भ में यह तय है कि हर विचार/मत/बात आदि को ज्ञान नहीं माना जा सकता। तो फिर किस तरह तय करें कि ज्ञान किसे मानेंगे। साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि सीखने का अर्थ क्या है और हम कब यह मानेंगे कि कोई बच्चा सीख गया है। कैसे सिखाना है, इसके बाद ही सोचा जा सकता है। एक और कड़ी जो सोचने के लिए जरूरी है, वह यह कि इंसान सीखता कैसे है और हमारी सीखने की स्वाभाविक प्रक्रिया के क्या–क्या आयाम हैं। अक्सर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के अभी के स्वरूप में इन सभी बातों को पर्याप्त स्थान नहीं मिलता।

शिक्षा के उद्देश्य के पहलू, ज्ञान की कसौटी के पहलू, इंसानी बच्चों के सीखने की प्रक्रिया के पहलू व शिक्षा के सामाजिक संदर्भ व बच्चों में विविधता के पहलुओं पर एनसीएफ–2005 बहुत जोर देता है। यह कहा जा सकता है कि एनसीएफ कई मसलों पर इतनी स्पष्टता नहीं देता जितनी कि आवश्यक है। फिर भी वह गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का एक बुनियादी ढांचा और उसके लिए आवश्यक परिस्थितियों का निरूपण तो करता ही है। इस निरूपण में खास बात यह है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के दायित्व को सिर्फ कक्षा व शिक्षक के ऊपर नहीं उड़ेलता बल्कि उसको ज्यादा व्यापक अवधारणा के रूप में चिह्नित करता है। इसी कारण गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की धारणा, पाठ्यचर्या की तरह ही एक निरपेक्ष शब्द न रह कर द्वन्द्व के मुद्दे के रूप में सामने आती है।

क्या सही है, क्या नहीं

इस बात को समझने के लिए शिक्षा के उद्देश्य वाले मसले व सभी के लिए शिक्षा के मसले को थोड़ा उकेरेंगे तो बात और स्पष्ट हो जाएगी। अक्सर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की बात करते समय, उसके लिए आवश्यक संसाधन, उसमें शामिल प्रक्रियाओं व सीखने में सभी को शामिल करके, हम उस पर नहीं सोचते। सभी के लिए शिक्षा के संदर्भ में यह बात महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि गुणवत्ता का अहसास कैसे होगा। क्या माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षा के गुणवत्तापूर्ण होने का आकलन, प्रतियोगी परीक्षाओं में सफल छात्र–छात्राओं की संख्या से लगाया जाएगा? अथवा परीक्षा के अंकों के स्थान पर कुछ और पहलुओं को देखकर इसका निर्णय होगा? जानकारी से दूर जाने के लक्ष्य को सर्वोपरी मान कर और स्वतंत्र चिंतन को महत्त्वपूर्ण समझ कर सोचें तो बच्चों की जिज्ञासा व प्रश्नों को प्रोत्साहित करना आवश्यक हो जाता है। तो क्या यह मानें कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का अर्थ यह है कि सभी बच्चे स्वतंत्र रूप से सोचने व प्रश्न पूछने लग जाएं? वे हर तरह के प्रश्न पूछ सकेंगे या फिर प्रश्नों का कुछ समय व दायरा तय करना अनिवार्य हो जाएगा? क्या पूरी तरह स्वतंत्र हो कर हर बात पर, हर तरह से सवाल को प्रोत्साहन देने से कुछ अड़चन भी आ सकती है। तो फिर कैसे इन बातों में संतुलन करें? क्या सभी के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा में यह निहित है कि सभी को एक जैसे मौके मुहैया हों? क्या एक जैसे ये मौके सबको मुहैया करवाए जा सकते हैं?

शिक्षा के उद्देश्यों के संदर्भ में जब हम सभी के

लिए शिक्षा की बात करते हैं तो एक सामान्य–सी बात आसानी से कही और मान ली जाती है, वह यह है कि शिक्षा का उद्देश्य अच्छा नागरिक बनाना है। इस अच्छे नागरिक में क्या छिपा है, इसकी व्याख्या पर सहमति इतनी सरल नहीं है। उदाहरण के लिए, क्या अच्छे नागरिक का अर्थ यह है कि जो हर बात पर सवाल पूछे यानि हर नियम को जाने–परखे, उसे चुनौती दे, उसके उपयोग व इस्तेमाल के ढंग पर सवाल पूछे और उसे बदलने की कोशिश करे? याने क्या अच्छे नागरिक का अर्थ यह है कि ऐसा व्यक्ति जो समाज में लगातार बदलाव के प्रयास के बारे में सोचता रहे और उसे अंजाम देने में मदद करता रहे? या फिर अच्छा नागरिक वह है, जो समाज के नियमों को माने व उनके अनुसार कार्य करे? वह समाज में माने जाने वाले नियमों व रीतियों की इज्जत करे व उन्हें स्थापित करने में मदद करे। हम यह कह सकते हैं कि यह व्याख्या समस्या मूलक व गलत है। इनमें से कोई भी बात पूरी तरह से ठीक नहीं है। असल में ये न तो पूरी तरह से ठीक है और न सही और न ही गलत। पर जब हम इन दोनों का मिश्रण बनाने बैठेंगे तो किसे बदलना है और कितना और कैसे या वैसे ही रखना है, आदि सवालों पर एकमत होना असंभव है। यह तो सिर्फ एक उद्देश्य के संदर्भ में बात हुई इनमें शिक्षा के अन्य उद्देश्यों को शामिल करें तो निष्कर्ष तक आना और कितना जटिल होगा हम सोच सकते हैं। हर उद्देश्य से मामला और उलझ जाएगा। किंतु गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के बारे में बात करते समय, बगैर इन मसलों पर बातचीत किए और बगैर इन पर संघर्ष किए एक साझा समझ नहीं बनेगी। इस साझी समझ के बगैर हम आगे नहीं बढ़ सकते।

नहीं तो वैसा ही होगा जैसा शिक्षक व स्कूल महसूस कर रहे हैं। कुछ नवाचार करने के प्रयास में हर पल कुछ नया शुरु करने की बात होती है। शिक्षा प्रशासन के केंद्रीकृत ढांचे के चलते उच्च अधिकारियों का नजरिया व विचार ही सर्वोपरी होते हैं। उन्हें भी यह आवश्यक लगता है कि उनके कार्यकाल में कुछ न कुछ नया तो हो। इसके चलते लगातार कुछ न कुछ बदलने की आवश्यकता रहती है। शिक्षा व उसकी गुणवत्ता की साझी समझ हो तो कोई परेशानी नहीं या कम परेशानी होगी। हर नया कदम और हर नवाचार के साझी समझ के दायरे में होने से पहले प्रयास के विपरीत अथवा बिल्कुल ही अलग दिशा में नहीं होगा। शिक्षा एक पीढ़ी दर पीढ़ी की प्रक्रिया है। इसमें परिवर्तन शनै–शनै ही हो सकता है। नया करने की होड़ व नवाचार पर जोर सिर्फ यह देखना चाहता है कि नया क्या हुआ। पहले बहुत अच्छा हो रहा था तो भी उसे बदल कर कुछ तो नया करो। नएपन का यह जोर शायद लोगों के सृजन व भागीदारी को प्रेरित करने के लिए भी है, फिर भी नवाचार व नएपन की दौड़ इस केंद्रीकृत व्यवस्था में शिक्षक के स्वतः प्रयास व समझ के विकास में बड़ी बाधा है। परिवर्तन, साझा समझ, शिक्षा के उद्देश्य व शिक्षक के वजूद का एक और पहलू भी है। हर समाज यह चाहता है कि उसमें सम्मिलित लोगों का भी और स्वयं समाज का भी विकास हो। लेकिन यह भी जरूरी होता है कि समाज के नियमों व उसके रीति–रिवाजों को बरकरार रख कर उन्हें आगे बढ़ाया जाए क्योंकि वही उसकी पहचान है। इनमें से किस–किस प्रथा को, कार्य के ढंग को, रीति–रिवाज माना जाएगा और फिर कौन से रीति–रिवाज को बरकरार रख कर, उसे आगे बढ़ाना है, किन को बदलना है, इनमें कैसा बदलाव करना है, आदि प्रश्न गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के आधार तय करने की एक बुनियादी कड़ी है।

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के संदर्भ में शिक्षा के उद्देश्यों का मसला बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अगर इस मसले पर गहराई से विचार नहीं किया जाए, तो फिर तमाम दस्तावेजों और वक्तव्यों के बावजूद,

उद्देश्य कुछ खास व्यवहारों तक सीमित हो जाते हैं। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की चिंता करते–करते हम शिक्षा की सामान्य व मान्य समझ के बहुत से पहलुओं का ध्यान नहीं रखते। इनमें सबसे प्रमुख शिक्षा व उसकी उत्तमता के आधार हैं। शिक्षा में बढ़ते केंद्रीकरण के चलते, शिक्षा की गुणवत्ता को बनाए रखने और उसके उपयोगी होने का परीक्षण करवाने व उसके आंकड़ों पर निष्कर्ष निकालने से, शालाओं, बच्चों व शिक्षकों की विविधता नजरअंदाज हो जाती है। आज के संदर्भ में, यह महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की जांच उपकरणों द्वारा ही की जा सकती है। इसमें महत्त्वपूर्ण यह ही माना जाता है कि बच्चा परीक्षा में सफल हो। शर्त यह भी होती है कि परीक्षा स्कूल के शिक्षक के अलावा कोई दूसरा ले और परीक्षा ऐसे मापदंडों के आधार पर हो जो व्यापक स्तर पर सही मानी जाए। हालांकि, साथ–साथ यह भी कहा जाता है कि इस तरह की जांच का उद्देश्य बच्चों को ज्यादा दबाव में डालना नहीं है। बाहर की परीक्षा का दबाव स्कूल व शिक्षक पर और अंततः बच्चों पर पड़ता ही है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की इस व्याख्या में, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह हो जाता है कि हम यह जांचें कि, जो जांचने वाला मानता है, बच्चों को सिखाना चाहिए और जिस ढंग से वह सीखना चाहे, वे ऐसा कर पाए हैं या नहीं। इसमें यह भी माना जाएगा कि किसी भी संदर्भ में बच्चों की उम्र के हिसाब से सीखने की सामग्री, स्तर व जांच उपकरण परिभाषित किए जा सकते हैं। यह भी कहीं न कहीं माना जाता है कि बहुत कुछ जो स्कूल में सीखना है वह व्यवहार में तत्काल स्पष्ट रूप से झलकना चाहिए। विभिन्न स्तरों पर, इस तरह के परीक्षणों का दबाव बढ़ता जा रहा है। क्योंकि ढांचे के काम करने के ढंग पर शक की लकीर गहरा रही है। दरअसल, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की इस संकुचित समझ, में शिक्षा के स्तर का प्रमुख जिम्मेदार शिक्षक व बच्चा बन जाता है और शेष हर स्तर के शैक्षिक अधिकारी का काम मात्र शिक्षक और बच्चों के काम को जांचना और उसमें गलती निकालना रह जाता है। इसमें यह भी शामिल हो जाता है कि शिक्षक व स्कूल के सभी कार्यकर्ताओं को ठेल कर ही पढ़ाने का कार्य करवा सकते हैं।

हृदय कांत दीवान : विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में शैक्षिक सलाहकार हैं।

गुणवत्ता सुधार में शिक्षक की भूमिका

संजीव बिजल्वाण

शिक्षा मानव जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मसला है। एक सार्थक जीवन जीने के लिए व्यक्ति का शिक्षित होना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है शिक्षा का गुणवत्तापूर्ण होना। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए कई तरह के प्रयास हमेशा से किए जाते रहे हैं।

यदि देश के शैक्षिक इतिहास पर नजर दौड़ाएं, तो स्वतः ही यह बात हमें समझ में आती है कि समय–समय पर विभिन्न आयोगों द्वारा देश की शिक्षा व्यवस्था में व्यापक बदलावों के माध्यम से शिक्षा में गुणवत्ता लाने की कोशिश की जाती रही है। सर्व शिक्षा अभियान या राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा योजना जैसी कुछ परियोजनाओं के माध्यम से ढांचागत विकास व शिक्षा में गुणवत्ता लाने के प्रयास किए जाते रहे हैं। इन तमाम प्रयासों के फलस्वरूप भौतिक रूप से शिक्षा में कुछ बेहतर अवश्य हुआ है, लेकिन फिर भी हमें शिक्षा की गुणवत्ता पर काम करने की जरूरत है। आज शिक्षाविदों व नीति–नियंताओं को अहसास होने लगा है कि बेहतर शिक्षा के लिए इसकी मुख्य कड़ी, यानी शिक्षक को केंद्र में रखना होगा। इसीलिए बारहवीं योजना में देशभर में शिक्षक–शिक्षा पर खासा जोर दिया जा रहा है। शिक्षक शिक्षा का काम करने वाले शैक्षिक संस्थानों को भी अधिक सक्षम व संसाधन सम्पन्न बनाया जा रहा है।

देश–काल की बदलती परिस्थितियों में शिक्षा के मायने बदले हैं। शिक्षण के तौर–तरीके भी बदल रहे हैं और समाज की अपेक्षाएं तो बदली ही हैं तो फिर शिक्षक और शिक्षार्थी की भूमिका बदलना तो स्वाभाविक ही है। अब व्यवहारवाद से रचनावाद की दिशा में आगे बढ़ने की तैयारी की जा रही है। दूसरी तरफ रचनावाद क्या है? इसे कैसे समझ जाए पर बहस जारी है। इसके चलते अब शिक्षा के सभी आयामों को एक नए नजरिए से देखने–समझने की जरूरत है। अब यह समझा जाने लगा है कि शिक्षक एक परमज्ञानी नहीं अपितु एक सुगमकर्ता की तरह है, बच्चा एक स्वतंत्र शिक्षार्थी के रूप में है, जो ज्ञान का सृजन करे न कि केवल ज्ञान को प्राप्त करे। अब ज्ञान कोई बनी–बनाई चीज की तरह नहीं बल्कि सृजित की जाने वाली एक प्रक्रिया की भांति है।

इन बदले संदर्भों, मायनों व भूमिकाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है शिक्षक और शिक्षार्थी की स्वतंत्रता। शिक्षक के स्वतंत्र होने पर सीखने–सिखाने की प्रक्रिया लचीली और संदर्भ व परिवेश आधारित होगी। शिक्षा की व्यापक व्यवस्था में कक्षा–शिक्षण एक ऐसा क्षेत्र है जिसके लिए शिक्षक सबसे अधिक जिम्मेदार होता है। पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम के लक्ष्य व उद्देश्य के रूप में तो पाठ्यपुस्तकें सहायक सामग्री के रूप में उपलब्ध होती ही हैं। इन सबका महत्त्व कक्षा–शिक्षण में तभी है, जब शिक्षक उन्हें अपने प्रयासों से जीवंत बनाता है, नहीं तो इनमें लिखी बातें केवल किताबी ज्ञान तक ही सीमित रह जाती हैं। कक्षा–शिक्षण से जुड़ी बातों के केंद्र में बच्चे और शिक्षक ही होते हैं। इनमें

होने वाली अंतःक्रियाएं ही शिक्षण को जीवंत और रोचक बनाती हैं। कौन सा बच्चा कैसे सीखता है, कौन सा बच्चा किस तरह की गतिविधियों में अधिक रुचि लेता है, कौन सी बातें हैं, जो बच्चों को सीखने के लिए अधिक प्रेरित करती हैं, आदि बातों को शिक्षक से बेहतर और कौन समझ सकता है। यह प्रक्रियाएं जितनी प्रभावी, रोचक और नियोजित होंगी, शिक्षण उतना ही सफल माना जाएगा। इस प्रकार कक्षा–शिक्षण विशुद्ध रूप से शिक्षक के अधिकार क्षेत्र में आता है। इसका कतई यह आशय नहीं है कि कक्षा–शिक्षण में बच्चे की भूमिका नगण्य होती है।

शिक्षक की महत्ता व भूमिका के कमजोर होने के कारणों को भी समझना होगा। यह अचानक होने वाली घटना नहीं है। मूलतः इसकी जड़ें औपनिवेशिक काल में धंसी हुई हैं। ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व भारत में शिक्षा का संचालन समाज द्वारा किया जाता था। शिक्षक की व्यवस्था भी समाज करता था। अंग्रेजों की मंशा ऐसी शिक्षा व्यवस्था कायम करने की थी जिसके माध्यम से ऐसे लोग तैयार हों जो उनके राज–काज में सहयोगी बन सकें। (यहां यह जिक्र करना भी जरूरी है कि सभी अंग्रेज अफसर जिन्होंने भारत की शिक्षा के बारे में सोचा उनके विचार एक से नहीं थे।) उन्होंने शिक्षा को समाज के लिए नहीं बल्कि अपनी नीतियों को पोषित करने के एक सशक्त माध्यम के रूप में स्थापित करने के प्रयास किए। इस प्रकार शिक्षा का संचालन समाज के हाथों से सत्ता के अधीन कर दिया गया। समूची शिक्षा व्यवस्था सरकार के नियंत्रण में कर दी गई। ऐसे में शिक्षक भला कैसे अछूता रह सकता था। उस पर भरोसा किए जाने की जगह उसे नियंत्रित किया जाने लगा। नौकरशाही के नियंत्रण ने शिक्षक की भूमिका और हैसियत को कम करने का काम किया।

आज शिक्षण की प्रक्रियाओं को बदलने की जरूरत है। हर बार सत्र के शुरू में अक्सर यह देखने को मिलता है कि विद्यालयों में शिक्षण कार्य इसलिए सुचारू रूप से नहीं हो पाता, क्योंकि पाठ्यपुस्तकें समय पर उपलब्ध नहीं करवाई जाती हैं। बिना इनके क्या और कैसे पढ़ाएं? ऐसा मान लिया गया है कि बिना पाठ्यपुस्तकों के शिक्षण कार्य संभव ही नहीं है। कम से कम प्रारंभिक स्तर पर पाठ्यपुस्तकों के अलावा कई ऐसे माध्यम हैं, जो शिक्षण कार्य को अधिक रोचक व प्रभावी बनाते हैं। जैसे– आस–पास का परिवेश, गांव, घर, समुदाय आदि। पाठ्यपुस्तकों पर बढ़ती निर्भरता ने भी शिक्षक को कमजोर करने का काम किया है। इससे कक्षा–शिक्षण के अन्य विकल्पों की ओर न तो ध्यान जाता है और न ही उन पर भरोसा करते हैं। शिक्षक, शिक्षक–प्रशिक्षणों में होने वाले बदलावों को समझने के लिए भी तैयार नहीं होते हैं। आखिर इन प्रशिक्षणों का मुख्य उद्देश्य है– शिक्षक का सशक्तीकरण। क्या शिक्षक केवल कक्षा–शिक्षण तक ही सीमित रह सकता है? क्या शिक्षा दर्शन व शिक्षा मनोविज्ञान जैसे विषयों के सिद्धांतों को गढ़ने व समझने का अधिकार केवल शिक्षाविदों को ही है, शिक्षकों को नहीं? सबसे बड़ा मनोवैज्ञानिक तो शिक्षक है, जिसका सीधा संबंध शिक्षार्थी से होता है। अतः आज शिक्षक को हर दृष्टि से सशक्त होने की जरूरत है– विचार, शिक्षण, विषयगत ज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में आदि।

शिक्षा में सभी की अपनी–अपनी भूमिका है। पॉलिसी बनाने का काम सरकार का है, तो पेडागॉजी और करीकुलम एससीईआरटी तथा डायट के जिम्मे हैं। प्रैक्टिस का सम्पूर्ण काम शिक्षक का होता है। यद्यपि पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में भी अब शिक्षकों को शामिल किया जाने लगा है। कक्षा में किस बच्चे को क्या और कैसे पढ़ाया जाना है, यह निर्णय विशुद्ध रूप से एक शिक्षक का ही होता

है और होना भी चाहिए। कक्षा में करवाई जाने वाली सभी गतिविधियों का संचालन आखिर शिक्षक ही तो करता है। कक्षा में सरकार या उसकी नीतियों का, राजनीतिक हस्तक्षेप जैसे तमाम कारणों का सीधे तौर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। हां, कुछेक कारण जरूर प्रत्यक्ष रूप से इसमें दखल देते हुए प्रतीत होते हैं। हमारे सामने कई उदाहरण हैं, उन शिक्षकों के जो विषम परिस्थितियों में बेहतर काम कर रहे हैं। यह कैसे संभव है उन सब कारणों के होते हुए, जिन्हें हम सबसे बड़ा बाधक मानते हैं। आखिर हर शिक्षक के सामने विसंगतियां किसी न किसी रूप में तो होती ही हैं। कौन से और कारण हैं कि किसी विद्यालय में सभी संसाधन उपलब्ध होते हुए, मानक के अनुसार पर्याप्त शिक्षक होते हुए और विद्यालय का सुगम जगह पर होते हुए भी, वहां के बच्चों का दक्षता स्तर अपेक्षानुरूप नहीं होता है।

दूसरी ओर, इसके विपरीत परिस्थितियों में भी कोई एकल शिक्षक बच्चों में उन सभी दक्षताओं को निखारने में सफल रहता है, जो उस स्तर पर अपेक्षित हैं। यद्यपि शिक्षा की गुणवत्ता के लिए विद्यालय भवन से लेकर बैठने की व्यवस्था तक और सुन्दर परिवेश से लेकर कंप्यूटर जैसे सभी पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें नकारा नहीं जा सकता है। विद्यालय विकास में इन सभी की अपनी–अपनी महत्ता व भूमिका तो होती ही हैं। ऐसे तमाम उदाहरण हमें दिखाई देते हैं, विषम परिस्थितियों में भी बेहतर प्रदर्शन करने वाले विद्यालयों के और अनुकूल परिस्थितियों में भी बेहतर न कर पाने वाले विद्यालयों के। उपर्युक्त दोनों उदाहरण यह समझने के लिए पर्याप्त हैं कि शिक्षा में गुणवत्ता का मुख्य आधार शिक्षक ही है। एक शिक्षक की प्रतिबद्धता, लगन, मेहनत, प्रेरणा, प्रयास, लगातार सीखते रहने की ललक, इत्यादि ही वे केंद्रीय तत्व हैं, जो गुणवत्ता के लिए सर्वथा अनिवार्य हैं।

शिक्षक स्वयं को अधिक से अधिक सशक्त बनाकर, न केवल बाहरी हस्तक्षेप व प्रभाव को कम कर सकता है, बल्कि विद्यालय में कक्षा–शिक्षण व सभी गतिविधियों को बच्चों के सीखने पर केंद्रित कर सकता है। इससे शिक्षक का आत्मविश्वास और आत्मसम्मान बढ़ने के साथ–साथ उस पर समाज का भरोसा भी बढ़ने लगेगा। शिक्षक को स्वयं की हैसियत और भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानना होगा। उसे खुद ही स्वयं की पीठ थपथपाते हुए अपना मूल कार्य करते जाना है। शिक्षक को समझना होगा कि उसकी असल सफलता केवल कुछ फीसदी बच्चों का प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना या राष्ट्रपति पुरस्कार मिलना नहीं है अपितु हर उस बच्चे का सीखना है, जो उसकी जिंदगी से गुजरता है। यह गुणात्मक शिक्षा की कसौटी भी है।

संजीव बिजल्वाण : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, जिला संस्थान उत्तरकाशी (उत्तराखंड) में कार्यरत हैं।

प्राथमिक स्कूलों में

गुणात्मक शिक्षा के मायने

स्मृति कुलश्रेष्ठ

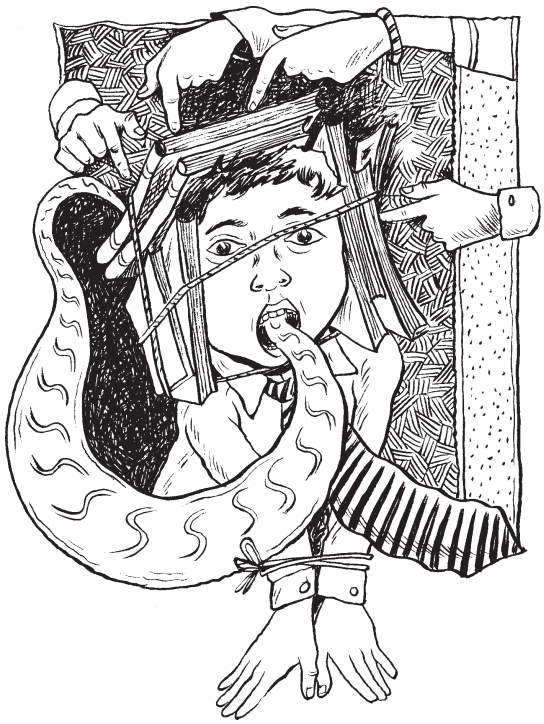

आजकल 'क्वालिटी एज्यूकेशन' शब्द बहुतायत रूप से सुना जा रहा है। सवाल यह है कि सिर्फ 'स्मार्ट क्लासेज' सरीखी और उच्च तकनीकी शिक्षण विधियों के सहारे हम कैसे शिक्षा को गुणवत्ता के स्तर पर पहुंचा सकते हैं। मेरे अनुसार तो 'शिक्षा' की संपूर्ण परिभाषा में 'क्वालिटी' शब्द खुद ही निहित है, इसे पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता मूलभूत कमियों पर ही ध्यान केंद्रित करने की है।

शिक्षा का अर्थ उस ज्ञान से होता है, जो समय–समय पर, किसी भी कार्य को करने व उसे समझने की क्षमता के रूप में सामने आता है। यह वह ज्ञान नहीं है, जो सूत्रों, सूक्तियों या किताबों की महत्त्वपूर्ण उक्तियों के स्मरण मात्र से प्राप्त किया जाता है। जीवन का तो कोई निश्चित सूत्र नहीं होता, हर नई स्थिति में नई नियमावली का सूत्रपात करना होता है। इसी प्रकार शिक्षा का क्षेत्र भी अति विस्तृत है। इतना विस्तृत कि वह जीवनपर्यन्त हमारे काम आता है। यूं तो ज्ञान अपरिमित है। वास्तव में अर्जित ज्ञान का किस प्रकार व्यावहारिक जीवन में इस्तेमाल किया जाए, यही तकनीकें मेरे अनुसार शिक्षा का दायरा है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या शिक्षा को इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि वह बालकों को जीवनोपयोगी लगे? बचपन से रटाई जाने वाली भारी–भरकम सामग्री की कदाचित वे अनुभूति कर पाते हैं। हुआ यूं कि कक्षा छः की एक बच्ची अपना पाठ मुझसे समझना चाहती थी, जिसमें 'हमारा देश भारतवर्ष' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए थे। न जाने मुझे क्या हुआ और मैने उससे 'देश' का अर्थ पूछ लिया। वह उसका संतोषजनक उत्तर न दे सकी। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान में 'रेडियो एक्टिविटी' पर आधारित प्रश्न पूछने आई एक नवीं की छात्रा से मैंने पूछा, कि 'रेडियो एक्टिविटी' क्या है? तो उसने जवाब दिया कि वही सब कुछ 'रेडियो के पाट्र्स'। हमारी प्रयोगवादी, आधुनिक कक्षाओं की क्या स्थिति है यह समझाने की आवश्यकता नहीं।

मैं समझती हूं कि बच्चों में कल्पनाशक्ति का अभाव तो नहीं होता। फिर क्या कारण है कि शिक्षा प्राप्ति में यह अपनी पूरी क्षमता के साथ प्रयुक्त नहीं होता। कहीं ऐसा तो नहीं कि सूचनावादी शिक्षा, कल्पना के आकाश पर छा गई हो। दिखावे की दौड़ में, क्या हमारा ध्यान इस बात पर अधिक नहीं है कि हमारा बच्चा ज्यादा से ज्यादा जाने, बजाए इसके कि वह अधिक से अधिक रचनात्मक व 'खोजी' बने। दूसरा, शायद कहीं प्राथमिक शिक्षा स्तर पर ही हमारी शिक्षण विधियां

बच्चों को आकर्षित करने में असफल रही हों और उन पर पाठ्यक्रम और विषयों का भार उनकी क्षमता से अधिक हो। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण कारण कि शायद ये शिक्षण विधियां ही उन्हें रोजमर्रा के जीवन से जोड़ पाने में असमर्थ हों। मेरे हिसाब से प्राथमिक स्तर पर ही गुणात्मक शिक्षा की सर्वाधिक आवश्यकता है। दरअसल शिक्षा का आधार भी यहीं से बनता है और व्यक्तित्व भी।

इन उदाहरणों से यह भी साफ है कि कुल मिलाकर विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावक, सभी का अधिकांश ध्यान रटाई जाने वाली सामग्री पर अधिक है। इस बात पर कम कि कितना समझा जा रहा है। उत्तर पुस्तिकाओं में लिखाए गए गिने–चुने प्रश्नोत्तरों का स्मरण करा देने से परिणाम तो स्कूल और अभिभावकों की अपेक्षानुसार आ जाता है, परंतु क्या इस प्रकार की शिक्षा की गुणवत्ता बनी रहती है? क्या यह स्थिति खतरनाक नहीं? मैं समझती हूं कि पढ़ाने के कितने ही आधुनिक और बेहतर तरीके स्कूलों द्वारा क्यों न अपनाए जाएं लेकिन ये सभी शिक्षक की क्रियाशीलता और ज्ञान के अभाव में व्यर्थ हैं। इसलिए शिक्षक की गुणवत्ता का आकलन करना आवश्यक है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मात्र डिग्रियों को ही शिक्षण की योग्यता का आधार न समझा जाए। अतः इस बात की निगरानी की सबसे अधिक आवश्यकता है कि स्कूल द्वारा चयनित शिक्षक, चाहे वे सरकारी हों अथवा निजी, की गुणवत्ता पर कितना ध्यान दिया जा रहा है। विद्यार्थियों को शिक्षा की गुणवत्ता के स्तर पर पहुंचाने के लिए, न केवल योग्य शिक्षक, बल्कि कक्षा में प्रति शिक्षक छात्रों की संख्या का भी एक मानक अनुपात में होना आवश्यक है। मेरे हिसाब से इन चीजों के सर्वेक्षण होने चाहिए। इसकी आवश्यकता इसलिए अधिक है, क्योंकि इन दिनों खासतौर से प्राइवेट शिक्षण संस्थान शिक्षा के उद्देश्य से कम, व्यापार और बाजार नीति से अधिक प्रभावित लगते हैं। अतः शिक्षा में गुणवत्ता लाने के लिए हमें शिक्षा के बाजारीकरण को रोकना होगा।

इस बात का भी सर्वे होना चाहिए कि अमुक विद्यालय द्वारा चयनित पुस्तकें किस प्रकार की हैं। क्या ये पुस्तकें किसी अवधारणा को समझने में मदद कर रही हैं। क्या पाठ तर्कसंगत व क्रमबद्ध हैं, क्या दिए गए अभ्यास–प्रश्न, संबंधित कक्षा के छात्रों के मानसिक स्तर के अनुसार हैं। उदाहरण के तौर पर यदि बच्चे गुणा व भाग की साधारण अवधारणा को समझते हैं, तो वे जानते हैं कि बार–बार जोड़ की क्रिया को गुणा द्वारा सरलीकृत किया जाता है और लगातार एक ही संख्या को यदि घटाया जाए तो भाग की क्रिया लागू होती है। क्रमशः वे समझने लगते हैं कि यदि किसी एक वस्तु का मूल्य पता हो तो उसी प्रकार की कई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने के लिए 'गुणा' अपनाना है और ठीक इसके विपरीत स्थिति के लिए भाग। तब अभ्यास हेतु इनमें साधारण परिवर्तन कर इन पर आधारित इबारती प्रश्नों को शामिल किया जाना चाहिए।

नन्हें छात्रों पर विभिन्न विषयों का बोझ न लादा जाए, बल्कि उन्हें व्यावहारिक जीवन की गतिविधियों के साथ जोड़ते हुए प्रयोगों के द्वारा उन्हें समझाना बेहतर होगा। प्राथमिक स्तर पर श्रवण व दर्शन की प्रक्रियाओं को अधिक अपनाया जाए और बच्चों के कौतुहल को ही शिक्षा का साधन बनाया जाए तो उनकी ऊर्जा सीखने पर ही केंद्रित रहेगी। उनकी जिज्ञासा स्वतः ही उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित करेगी। कक्षा, विद्यालय प्रांगण यहां तक कि घर की तमाम वस्तुएं, उदाहरण व उपकरण दोनों हो सकते हैं जिन्हें प्रयोगशाली बनाने के लिए शिक्षक को तो क्रियाशील होना ही होगा।

यदि विद्यालय इनमें सक्षम हो जाएं तो वे अपने सभी छात्रों को आत्मनिर्भर और आत्मविश्वासी बना सकते हैं।

स्मृति कुलश्रेष्ठ : अंग्रेजी विषय में एम.ए. हैं।

प्रायवेटोपिया के मिथक

अनुराग बेहार

भारत की शिक्षा तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि सार्वजनिक शिक्षा के तंत्र को नहीं सुधारा जाता। इसके अलावा और कोई रास्ता ही नहीं बचता। लेखक का यह मशविरा आज के इस प्रतिद्वंद्वी युग की शिक्षा के निजीकरण की व्यवस्था के मिथक पर चोट करता है।

एक जगह है जहां कोई सार्वजनिक व्यवस्था नहीं, सब कुछ निजी तौर पर संचालित होता है। उस जगह को 'प्रायवेटोपिया' के नाम से जाना जाता है। वह जगह एकदम साफ–सुथरी और बेहतरीन है। वहां के बच्चे शिक्षा पाते हुए बड़े होते हैं। चमचमाती सड़कें बखूबी एक दूसरी जगहों को जोड़ती हैं। यातायात सुविधाएं एकदम बढ़िया हैं। अगर जो थोड़े बीमार पड़ते हैं, उनके इलाज के लिए अत्याधुनिक सुविधाओं से लैस अस्पताल हैं। उस जगह पर अति चौकस सेना द्वारा अमन चैन व हिफाजत कायम है। यह संभव हुआ जब प्रतिद्वंद्विता की गतिशील ताकतों व बाजारवादी नजरिए ने सभी सार्वजनिक सेवाओं को अपने कब्जे में कर उन्हें निस्तेज बना डाला। अब वह स्वर्णिम दिन दूर नहीं जब अन्य आवश्यक सेवाएं जैसे कि संवैधानिक प्रतिनिधित्व, न्याय और पालन–पोषण आदि पर भी बाजार का नियंत्रण हो और ये ही ताकतें इन्हें उपलब्ध कराएं।

इस हास्यास्पद तस्वीर वाली जगह जिसे 'प्रायवेटोपिया' कहा जा रहा है, सार्वजनिक तंत्र एवं सेवाओं के बिना भारत की समस्याओं का हल कैसे किया जा सकता है, इसको लेकर मेरे अनेक दोस्तों के विचार प्रतिबिंबित होते रहते हैं मगर मैं अभी भी इस पर कायम हूं कि बिना सरकारी तंत्र व सेवाओं के यह संभव नहीं।

हममें से अधिकतर भी तो एक तरह से अपने–अपने 'प्राइवेटोपिया' में रहते हैं। भारत के उच्च मध्यमवर्गीय लोग सार्वजनिक व्यवस्था में तब तक शामिल नहीं होना चाहते जब तक कि बेहद जरूरी न हो। सार्वजनिक व्यवस्था की उपेक्षा की कई बेहतर वजहें भी वे गिनाते हैं। सार्वजनिक व्यवस्था को लेकर आम बात है, वह यह है कि जो अपेक्षित है वैसा यह उपलब्ध नहीं कराती।

पैसे व ताकत वाले लोग जो सार्वजनिक तंत्र का परित्याग कर रहे हैं उनका तो समझ में आता है, मगर प्रायवेटोपिया बेहतर समाज व प्रजातंत्र के लिए घातक है। जो लोग धनी और प्रभावशाली हैं वे न केवल सार्वजनिक तंत्र को तहस–नहस कर रहे हैं बल्कि इस पूरे के पूरे विचार को भी नेस्तनाबूत कर रहे हैं।

सार्वजनिक तंत्र के प्रति व्यक्तिगत हिस्सेदारी के अभाव को लेकर अर्थशास्त्र की वर्तमान संकीर्ण समझ 'प्रायवेटोपिया' के प्रति लालसा जगाती है। यह विडंबना ही है कि सार्वजनिक तंत्र के बुनियादी विचारों के प्रति उपेक्षा, एक अच्छे समाज की बुनियाद को खोखला करने में कोई कसर नहीं छोड़ रही हैं।

यहां तक कि जो लोग अच्छे से जानते हैं कि बाजार आधारित अर्थव्यवस्था सभी सेवाएं और उत्पाद उपलब्ध नहीं करा सकती। इनमें शामिल हैं वरिष्ठ शासकीय अधिकारियों समेत, वे सभी लोग जो निजीकरण को ही समाधान के रूप में सोचते हैं।

विद्यालयी शिक्षा जो मेरा कार्य क्षेत्र है, इस संघर्ष में सबसे अव्वल है। भारत की विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के निजीकरण का पहलू, दुनिया के अन्य देशों की बनिस्बत अधिक है और गहराता जा रहा है। विफल राज्यों में निजी विद्यालयों का प्रतिशत कहीं अधिक है जहां सार्वजनिक व्यवस्था को नाकाम करके निजीकरण को बढ़ावा दिया गया है। अगर हम विफल राज्यों को परिभाषित करें तो वहां की सार्वजनिक व्यवस्था और संस्थाएं चौपट हैं।

तमाम सिद्धांत, अनुभव और सबूत इन सभी के आधार पर इशारा करते हैं कि बेहतर सार्वजनिक विद्यालय ही एक मात्र रास्ता है, प्रणालीगत स्तर पर अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराने का। मैं पूर्व में लिख चुका हूं कि भारत में बेहतर शोधों के सबूत उस मिथक को तोड़ते हैं कि कैसे निजी विद्यालय सार्वजनिक विद्यालयों से बेहतर प्रदर्शन करते हैं। मैं यहां दुनिया के कुछ अनुभवों को साझा करना चाहता हूं। एक बहुचर्चित पुस्तक है डायनेरेविट्च की–''रिजन ऑफ एरर।'' यह पुस्तक यू.एस. में शिक्षा में क्रांति और इसके घातक असर को लेकर एक–एक करके लेखा प्रस्तुत करती है। पुस्तक बताती है कि दो दशक के निजीकरण के बाद स्वीडिश विद्यालयी तंत्र के नतीजे बदतर हुए और असमानता बढ़ती जा रही है। न केवल स्वीडिश बल्कि कई देशों ने विद्यालयों में बाजारवाद को शामिल कर खुद को हराने की रणनीति बना ली है।

आइए, एक व्यापक नजर डालते हैं 'पीसा' (प्रोग्राम फॉर इंटरनेशनल स्टूडेंट्स असेसमेंट) पर। यह अध्ययन ओईसीडी (आर्थिक सहयोग और विकास संगठन) द्वारा विभिन्न देशों में किया गया है। देशवार किए गए अध्ययन की अपनी सीमाएं हैं मगर फिर भी इसे कारगर कहा जा सकता है। पीसा–2012 में कही गई बात को यहां शब्दशः बताना चाहता हूं– उम्दा सामाजिक–आर्थिक हालातों के बावजूद निजी विद्यालयों का प्रदर्शन सार्वजनिक विद्यालयों की बनिस्बत कमजोर ही रहा है। निजी विद्यालय बेहतर प्रदर्शन नहीं कर पाए हैं। निजी विद्यालयों की व्यापकता या उच्च स्तर की प्रतिस्पर्धा से विद्यालयी तंत्र का भला होता नहीं दिखता।

सरल ढंग से कहें, तो जो सीधे–सीधे व्यापक प्रमाण 65 देशों के हैं, वे बताते हैं कि प्रतिस्पर्धा और बाजार आधारित व्यवस्था विद्यालयी तंत्र को सुधारने में कारगर नहीं है। तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इनसे गैर बराबरी ही बढ़ी है।

भारत में शिक्षा तब तक नहीं सुधर सकती जब तक सार्वजनिक शिक्षा को बेहतर नहीं किया जाता। इसके अलावा भारत में और कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। लिहाजा, कोशिश की बात तो भूल जाइए, इस विचार को ही भारत के अधिकांश अभिजात वर्ग ने तज दिया है।

भारत में शिक्षा के क्षेत्र में सुधार के प्रयास गहरे संघर्षों को प्रतिबिंबित करता है। संघर्ष इस बात का कि सार्वजनिक व्यवस्था जिसमें शामिल है सार्वजनिक शिक्षा को पुनर्जीवित करना और इसे क्रियान्वित करने का। क्योंकि हम एक जीवंत और सशक्त प्रजातांत्रिक देश के रूप में असफल नहीं होना चाहते। अगर हमने सार्वजनिक तंत्र को निस्तेज या कहें कि दुर्बल होने दिया तो अवश्य ही एक समाज के रूप में हम असफल हो जाएंगे।

अनुराग बेहार : अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय बैंगलूरु के वाइस चांसलर हैं। अंग्रेजी से भाषांतर–कालू राम शर्मा।

आधारशिला लर्निंग सेंटर

'काम और शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण आयाम

सिद्धार्थ जैन

मध्यप्रदेश के पश्चिम में महाराष्ट्र की सीमा से लगा 'सेंधवा' एक आदिवासी बहुल क्षेत्र है। काम केंद्रित शिक्षा मॉडल पर यहां स्थापित *आधारशिला शिक्षण केंद्र* आदिवासी समुदाय के बच्चों के शिक्षण का एक अभिनव केंद्र बन गया है। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 के निर्माण में काम और शिक्षा फोकस समूह द्वारा आधारशिला लर्निंग सेंटर के शैक्षिक कामों को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहां पेश है इस सेंटर के काम और शिक्षा का अंदाज।

सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय अमित एवं जयश्री ने शिक्षा के परिप्रेक्ष्य को बेहतर तरीके से जानने–समझने के बाद स्थानीय आदिवासी समुदाय के बच्चों को उनके परिवेश के अनुरूप शिक्षण देने के उद्देश्य से 1998 में यहां *आधारशिला लर्निंग सेंटर* की स्थापना की। इस केंद्र की स्थापना के बारे में जयश्री बताती है कि 'हमारे लिए बगैर संसाधनों के स्कूल चलाना चुनौतीपूर्ण काम था। स्थानीय समाज से अपेक्षा की गई थी कि वे इस काम के लिए आवश्यक साधन जुटाने में हमारी मदद करेंगे।' शुरुआत में स्थानीय लोगों की मदद से शिक्षण केंद्र के लिए उपयुक्त स्थान खोजा गया। इसके लिए गांव वालों ने पहाड़ी पर बंजर जमीन को चुना, जहां घास भी नहीं उग सकती थी। गांव वालों के परिश्रम से बंजर जमीन को व्यवस्थित किया गया और वहां एक जगह बड़े हॉल का निर्माण किया गया। इसके लिए किसी ने ईंटें दी, तो किसी ने अपना श्रम। करीब 30–32 बच्चों से एक शिक्षण केंद्र की शुरुआत हुई। धीरे–धीरे कारवां बढ़ता

गया और आज 110 से अधिक बच्चे परिसर में रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

इस शिक्षण केंद्र के बारे में सुन–पढ़ रखा था। काम और शिक्षा के संदर्भों में यह स्कूल अपने अनोखेपन के लिए चर्चा में रहने से, यहां का भ्रमण करने की उत्सुकता मेरे दिल–दिमाग में थी। भ्रमण में मेरे सामने मुख्य सवाल थे–

- ग्रामीण अंचल में स्कूल–शिक्षण की प्रक्रिया किस प्रकार चलाई जा रही है?
- पाठ्यपुस्तकों के साथ उनकी स्थानीय भाषा को किस प्रकार जोड़ा गया है?
- शिक्षकों का प्रोफाइल क्या है? ये शिक्षक कहां से आते हैं और उनका प्रशिक्षण कब और कैसे किया जाता है?
- उत्पादक कार्य के माध्यम से शिक्षण की प्रक्रिया किस प्रकार चलाई जा रही है? स्कूल के साथ आदिवासी समाज कितना जुड़ा है?

इन्हीं सवालों और जिज्ञासा के साथ शिक्षण केंद्र का भ्रमण किया गया और लगभग दो दिन रहकर शिक्षण की सारी प्रक्रियाओं को नजदीक से जानने और समझने का प्रयास किया।

सेंटर की बसावट और पृष्ठभूमि

सेंधवा शहर से निवाली पहुंच मार्ग पर लगभग 12 किलोमीटर की दूरी पर चाटली गांव के पास साकड़ गांव में यह सेंटर स्थित है। साकड़ गांव की आबादी लगभग दो हजार के आसपास है। यहां के लोग खेती–किसानी, पशुपालन व छोटे व्यवसाय से जुड़े हैं। स्कूल की भौतिक संरचना देखें, तो पाएंगे कि यहां तीन अलग–अलग हिस्सों में चार छोटे–बड़े भवन व कमरे बने हैं। एक कमरे में पुस्तकालय है, तो एक कमरा कार्यालय–कम–कंप्यूटर कक्ष है। एक हिस्से में रसोईघर बनाया गया है। बाकी कुछ खुले हिस्से का उपयोग खेतीबाड़ी के लिए किया जाता है। पहली से लेकर आठवीं कक्षा में पढ़ने वाले करीब 110 बच्चे यहां रहते हैं, जिसमें 65 लड़के और 45 लड़कियां हैं।

विभिन्न कक्षाओं को घूमकर देखने पर पता चला कि हर कक्षा में शिक्षक बच्चों के साथ घुलमिल कर उनसे बारेली भाषा में चर्चा कर रहे थे। तीन युवा शिक्षक–शिक्षिकाएं थीं। एक शिक्षक तो अभी बी.एस.सी. कर रहे हैं, वहीं दूसरी शिक्षिका 12वीं पढ़ रही हैं तथा एक शिक्षिका इस स्कूल की पूर्व छात्रा रही हैं।

आधारशिला लर्निंग सेंटर का दर्शन

यह सेंटर शिक्षाशास्त्री पाउलो फ्रेरे के विचारों से प्रभावित है और स्कूल प्रबंधन से जुड़े साथियों का मानना है कि सामाजिक बदलाव लाने के लिए स्कूल एक अच्छा माध्यम है। लेकिन सामाजिक बदलाव के लिए सिर्फ स्कूलों के भरोसे नहीं रहा

जा सकता। दूसरा, केवल किताबें पढ़ लेने से भी परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए स्कूल ज्ञान प्राप्ति का ऐसा केंद्र बने जो बच्चों को अपनी सामाजिक परंपरा से विमुख न करते हुए सामाजिक बदलाव के लिए शक्ति का एक केंद्र बन सके। इसके अलावा बच्चों में मूल्यों के निर्माण करने के लिए सामूहिक श्रम व सामाजिक सक्रियता के माध्यम से उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने का मौका देना इसका प्रमुख लक्ष्य है।

प्रकृति के परिवेश में शिक्षण

इस सेंटर के स्कूल की न तो कोई गणवेश है और न ही भारी भरकम बस्तों का बोझ। देखने में आया कि बच्चे स्व–अनुशासित ढंग से कक्षाओं में शामिल होते हैं। किसी तरह का हो–हल्ला नहीं सुनाई देता, जिसके बारे में हमेशा बच्चों से शिकायत रहती है।

छः एकड़ में फैला शिक्षण परिसर प्राकृतिक रूप से समृद्ध है। परिसर में तमाम किस्म के पेड़–पौधे और वनस्पतियां हैं। 15 वर्षों में ये बंजर जमीन आज उत्पादक जमीन के रूप में विकसित हो गई है। ये कमाल बच्चों ने अपनी पढ़ाई–लिखाई के साथ–साथ किया।

अमित भाई बताते है कि 'यहां करीब 100 विभिन्न प्रजाति के पेड़–पौधे हैं। वहीं यहां कुछ आयुर्वेदिक पौधे भी हैं। साथ ही तरह–तरह के पक्षी एवं तितलियां यहां की खूबसूरती में चार चांद लगाते हैं। कुल मिलाकर बच्चों की पाठशाला प्रकृति की गोद में रची–बसी है। इसके सान्निध्य में रहकर बच्चों द्वारा सीखने–समझने की भरसक कोशिश की जा रही है।'

शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य देखते हैं, तो हम पाते हैं कि आज की शिक्षा प्रकृति से दूर हो गई है। कक्षाएं भी चारदीवारों से घिरी हैं, वहीं पाठ्यक्रम की सीमाओं में बंधकर शिक्षण की प्रक्रिया चलाई जा रही है। इसके उलट, यहां इन बेड़ियों को तोड़कर नवाचारी ढंग से शिक्षण–पद्धतियों को अपनाया गया है। एक ढर्रे की शिक्षा से आजाद होकर, एक खुले वातावरण में बच्चों के साथ सामंजस्य बिठाकर शैक्षिक नवाचार का अध्याय लिखा जा रहा है।

मातृभाषा में शिक्षा

यहां के शिक्षण की खासियत है कि स्कूली शिक्षा पूर्णतः मातृभाषा में दी जा रही है। इस क्षेत्र में बच्चों को 'बारेली भाषा' में पठन–पाठन कराया जा रहा है। अपनी घरेलू भाषा की वजह से बच्चे बड़े उत्साह से शिक्षा–प्रक्रियाओं में शामिल होते हैं। मातृभाषा में शिक्षण बच्चे के लिए एक आनंददायी अनुभव होता है।

जीवन की सच्ची शिक्षा

आधारशिला जीवन की सच्ची शिक्षा का एक केंद्र बना हुआ है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 में भी इस बात पर जोर दिया गया है कि 'बच्चों में समझ विकसित हो, वे स्वयं जानकारी हासिल करें, वे तरीके जानें जिनसे जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अनुभव से प्राप्त जानकारी एवं संकलित तथ्यों का विश्लेषण कर सकें और स्वयं निष्कर्ष

निकाल सकें। इससे उनकी अवलोकन करने की क्षमता का विकास होगा और उनकी सोचने समझने की क्षमता बढ़ेगी। उनमें मौलिक सोच और स्वयं निर्णय लेने की क्षमता विकसित होगी।' आधारशिला में एनसीएफ की भावना के अनुरूप बच्चों के शिक्षण का कार्य जीवंत रूप में देखा जा सकता है। यहां बच्चों को सीखने और सृजनात्मक अभिव्यक्ति के पूरे अवसर हैं। बच्चों को उनके परिवेश और उनकी घरेलू भाषा में शैक्षिक कार्य मौज–मस्ती और पूर्ण स्वायत्ता के साथ कराया जा रहा है, जिससे उनकी सीखने की दक्षता का स्वतः ही विकास हो रहा है।

सहजता से जानते इतिहास की बारीकियां

यहां शिक्षण और काम की प्रक्रियाओं को इस तरह गूंथा गया है कि बच्चे खेल, नाटकों, लोकगीतों व लोकनृत्य के माध्यम से स्थानीय इतिहास को अपनी नजर से जानने के साथ समझने की कोशिश करते हैं। स्कूल से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर चाटली और साकड़ गांव हैं, जहां से ये बच्चे आते हैं। कक्षा 6 से 8 वीं तक के बच्चों को हर साल कुछ न कुछ नए प्रोजेक्ट दिए जाते हैं। कुछ बच्चों को 'स्कूल की जमीन का इतिहास' जानने का प्रोजेक्ट दिया गया। बच्चे इन कामों को खुशी–खुशी करते हैं। ताजुब्ब है कि बच्चों ने अपने स्कूल की जमीन का इतिहास खोजते–खोजते अपने पूरे गांव के इतिहास को समझ लिया। कितने साल पुराना गांव है? यहां कितने लोग रहते थे? यहां किस प्रकार के पेड़ थे? जैसे कई सवालों से बच्चों ने इतिहास विषय को आसानी से समझने का प्रयास किया और अपनी नजर से पूरे गांव का इतिहास लिख दिया। बाद में इसे एक पुस्तिका का स्वरूप दिया गया। इसी प्रकार, अन्य बच्चों के समूह ने साकड़ गांव के नदी–नालों का इतिहास लिखा, तो किसी ने सेंधवा तालाब के इतिहास को लिखने का प्रयास किया। बच्चों ने बीजों का इतिहास, लोक कथाओं का संकलन जैसी गतिविधियों को अपने शिक्षण प्रक्रियाओं के हिस्से के रूप में संपादित किया, जो कि शिक्षण केंद्र की विशिष्टता को प्रदर्शित करता है। श्रम कार्य जिसमें नियमित रूप से सफाई, बागवानी, खेती–बाड़ी, रसोई के काम आदि बच्चों द्वारा किए जाना, श्रम की महत्ता को परिभाषित करते हैं।

साहित्य सृजन के अवसर

बच्चों को शिक्षण के दौरान साहित्य सृजन की गतिविधियों से भी जुड़ने का मौका मिला है। बच्चे स्थानीय लोगों से मिलकर वहां की प्रचलित लोक कथाओं, लोकगीतों, लोकोक्तियों का संकलन करते हैं। बच्चे सृजनात्मक लेखन, कविताओं, गीतों का संकलन कर भित्ती अखबार, पोस्टर आदि के रूप में इस सामग्री को प्रस्तुत करते हैं।

तैयार की गई इस सामग्री का अन्य कक्षाओं के शिक्षण में उपयोग किया जाता है, जिसके द्वारा बच्चे सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश से परिचित होते हैं। गौरतलब है कि बच्चे स्वयं पुस्तकालय का संचालन करते हैं। पुस्तकालय में बैठकर अखबार, पत्रिकाओं एवं किताबों से सामग्री इकट्ठा करते हैं और शिक्षक साथियों के मार्गदर्शन में शीट तैयार करते हैं। पुस्तकालय का कोई वक्त निर्धारित नहीं है। बच्चे अपनी इच्छा से किताबें निकालते और पढ़ते हैं।

बारेली–हिंदी शब्दकोष का निर्माण

स्कूल में स्थानीय बारेली बोली और हिंदी के कुछ शब्दों को शामिल कर एक 'शब्दकोष' तैयार करने का प्रयास किया गया है। हिंदी के हर वर्ण अक्षर के आधार पर इस शब्दकोष को बनाया गया है। ''बारेली–हिंदी शब्दकोष'' में आमतौर पर प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों को सम्मिलित किया गया है। लगभग 50–60 पेज की हस्तलिखित बारेली–हिंदी शब्दकोष में प्रतिवर्ष नए शब्दों को जोड़ कर उसे बढ़ाया जा रहा है।

पर्यावरण अध्ययन

स्कूली पर्यावरणीय अध्ययन के अंतर्गत स्कूली बच्चों को स्थानीय परिवेश से जोड़ते हुए मौजूदा वनस्पतियों, प्रमुख उपज, बीज, पशु–पक्षियों, मिट्टी, जल संसाधनों आदि की जानकारियां प्रोजेक्ट के द्वारा एकत्रित कराई जाती है। बच्चे समूह में जानकारियां एकत्रित करते हैं और आपसी ज्ञान को एक–दूसरे के साथ बांटते हैं। वे अपने परिवेश से रू–ब–रू हो कर अपनी समझ को पुख्ता करते हैं। वे गांव में घूमकर अलग–अलग प्रकार के बीजों को इकट्ठा करते हैं, उन्हें एक शीट पर चार्ट के रूप में प्रदर्शित करते हैं। बीज की प्रजातियां कैसे लुप्त हो रही हैं, के बारे में जानकारियां एकत्रित करते हैं।

श्रम आधारित ज्ञानार्जन की प्रक्रिया

बुनियादी कामों की शिक्षा में शारीरिक श्रम ही नहीं अपितु श्रम की हर एक क्रिया में से ज्ञान का निर्माण हो सकता है। इस सिद्धांत को मानते हुए यहां पाठ्यक्रम से हटकर, बच्चों में ज्ञान उड़ेलने के बजाए काम आधारित शिक्षा पर जोर दिया गया है। काम आधारित शिक्षा में निम्नलिखित कामों को शामिल किया गया है'

- समूह आधारित खेती का काम
- रसोई बनाना और भोजनशाला की व्यवस्थाएं
- नर्सरी और बागवानी
- गोशाला में गायों की देखरेख और रखरखाव
- मुर्गीपालन
- पर्स निर्माण
- जैविक खेती के साथ जैविक कीटनाशक का निर्माण
- उन्नत चूल्हों का निर्माण
- बायो गैस संयंत्र का संचालन और रखरखाव
- सोलर ऊर्जा के पैनल और सयंत्रों की देखरेख

ग्रामीण परिवेश से जुड़े कामों को स्कूली पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाने से यहां शिक्षा का जुड़ाव जीवन की शिक्षा के रूप में देखने को मिलता है जिसकी झलक बच्चों के काम के तरीकों और व्यवहार में साफतौर पर देखी जा सकती है।

सिद्धार्थ जैन : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, भोपाल में कार्यरत हैं।

अच्छी शिक्षा के मायने बदल गए हैं

सदाशिव श्रोत्रिय

किसी देश की आर्थिक प्रगति के लिए उसके कामगारों को शिक्षित करना और स्वस्थ रखना भी आवश्यक होता है। इसीलिए इस संदर्भ में शिक्षा और स्वास्थ्य पर किए जाने वाले खर्च को अर्थशास्त्री मानव में निवेश का नाम देते हैं। पर मानव में किए जाने वाले इस निवेश को हमें इस रूप में भी देखने–समझने की जरूरत है कि इस तरह का निवेश स्वयं उस मानव जिसके लिए कि यह निवेश किया जाता है, को शारीरिक और मानसिक रूप से एक अधिक आनंदमय, सुखी और अच्छा जीवन जीने में समर्थ बनाता है। यह निवेश, इस तरह परोक्ष रूप से मानव के जीवन की गुणवत्ता में भी वृद्धि करता है। हम जानते हैं कि एक पढ़ा–लिखा, सुसंस्कृत, संवेदनशील और बहुत से विषयों की बारीकियों को जानने–समझने वाला व्यक्ति, जिस बौद्धिक और भावनात्मक स्तर का जीवन जीता है, उस स्तर का जीवन कोई अशिक्षित व्यक्ति नहीं जी सकता। हालांकि यह जरूरी नहीं कि सभी स्थितियों में पढ़े–लिखे और अनपढ़ लोगों में ऐसा ही होता है। कुछ इसी तरह की बात हम स्वास्थ्य के बारे भी कह सकते हैं कि अपनी शारीरिक दशा व क्षमता की बदौलत एक स्वस्थ व्यक्ति जीवन का जो आनंद लेने में समर्थ होता है, उस आनंद को पाने की सामर्थ्य किसी अस्वस्थ व्यक्ति में नहीं होती।

किंतु शिक्षा के द्वारा मानव जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि के इस पहलू को, साम्राज्यवादी या पूंजीवादी व्यवस्था सामान्यतः अनदेखा कर देती है। शिक्षा के नाम पर मानव में निवेश के पीछे उसका एकमात्र मकसद उस मानव को अपने व्यावसायिक लाभ के लिए इस्तेमाल करना होता है। इसीलिए शिक्षा के वे तत्व जो किसी मानव को भावनात्मक और बौद्धिक रूप से एक सुखी और गुणवत्तापूर्ण जीवन बिताने में समर्थ बनाते हैं, इस आर्थिक व्यवस्था में निरंतर उपेक्षा का शिकार होते जाते हैं। ऐसी शिक्षा व्यवस्था से निकला व्यक्ति कुल मिला कर किसी ऊंचे पद या अधिक पैसे को ही अपने जीवन

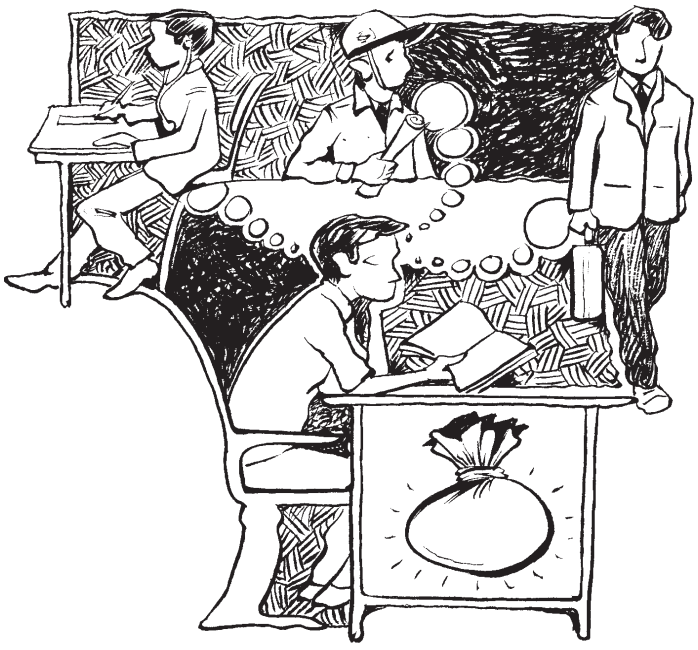

के चरम लक्ष्य के रूप में देखने लगता है और उसमें मानव जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकने वाले अन्य बहुत से गुणों का ह्रास होने लगता है। पूंजीवादी व्यवस्था की जंगी मशीन में वह भी अंततः उसका एक पुर्जा बन कर रह जाता है, जिसके पास संपूर्णता में जीवन का आनंद लेने के लिए न तो समय होता है और न ही क्षमता।

यदि हम आज की हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था पर दृष्टिपात करें, तो हमें बड़ी आसानी से इस बात के प्रमाण मिल जाएंगे। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि आज यदि आप किसी प्रतिभाशाली छात्र से पूछें कि वह आगे चल कर क्या बनना चाहता है, या यदि आप उसके अभिभावकों से पूछें कि वे आगे चल कर उसे क्या बनाना चाहते हैं, तो सामान्यतः आप एक ही तरह के उत्तर पाएंगे, जिनका संबंध मोटे तौर पर उस छात्र के द्वारा प्राप्त किए गए किसी ऊंचे पद या फिर उसके द्वारा उपार्जित ऊंची आय से होगा। इससे साबित होता है कि ''अधिक कमाओ और अधिक उड़ाओ'', के दर्शन वाली उपभोक्तावादी संस्कृति अपनी संपूर्ण भयावहता के साथ हमारे देश में अब पूरी तरह अपनी जड़ें जमा चुकी है।

हमारे देश के अधिकतर लोगों का आज ऊंचे पद या अधिक धन अर्जन को शिक्षा के अंतिम लक्ष्य के रूप में देखने लगना, हमारे समय की एक बहुत बड़ी विडंबना है। क्योंकि मानव जीवन की प्रकृति या नियति में मोटे तौर पर आज भी पिछले सौ, पांच सौ या हजार वर्षों की तुलना में बहुत अधिक अंतर नहीं आया है। मानव जीवन में हर्ष और विषाद के कारण आज भी मोटे तौर पर वही हैं। जन्म से युवावस्था प्राप्त करने में मानव को आज भी उतना ही समय लगता है। मानव जीवन की तमाम उपलब्धियों, अनुपलब्धियों के अंत में अब भी उसे एक दिन इस संसार से विदा होना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में, मानव जीवन की इस प्रकृति और नियति को निरंतर अपनी संपूर्णता में न देख पाने और उसके किसी एक भाग को ही जरूरत से ज़्यादा महत्त्व देने को अशिक्षा के सिवाय क्या कहा जा सकता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का दुर्भाग्य यह रहा कि अनेक शिक्षा आयोगों की अनेकों समझ भरी सिफारिशों के बावजूद, हम अपने देश में शिक्षा का कोई ऐसा स्वतंत्र मार्ग निर्धारित नहीं कर पाए जो विशिष्ट रूप से हमारी परंपराओं, हमारी सांस्कृतिक विरासत और हमारी वर्तमान सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, भौगोलिक, राजनीतिक स्थितियों के अनुरूप हो। अपनी इन विशिष्टताओं के परिप्रेक्ष्य में अपने देश के शैक्षिक विकास का कोई भारतीय मार्ग खोजने के बजाए, हम उसके लिए बराबर दूसरे देशों का मुंह ताकते रहे और उन्हीं के बताए मार्ग पर चलने की कोशिश करते रहे। इसका एक अपरिहार्य परिणाम यह हुआ कि हमारे यहां का शिक्षित वर्ग अपने परिवेश, अपनी संस्कृति और अपने ही लोगों से धीरे–धीरे कटता चला गया और सबके कल्याण में अपना कल्याण ढूंढने का कोई प्रयत्न करने के बजाए कहीं अन्यत्र जाकर, अपने लिए एक निजी स्वर्ग बना लेने का ख्वाब देखने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम वही हो सकता था जो किसी लंबी यात्रा के लिए निकले, उस परिवार का हो सकता है जिसके कुछ चतुर और सक्षम सदस्य अपने परिवार के अन्य सदस्यों को प्लेटफॉर्म पर ही खड़ा छोड़ कर, कोई तेज रफ्तार की गाड़ी पकड़ लें।

हमारी शिक्षा के संदर्भ में मूलभूत बात आज भी यही है कि हमें उसमें अपनी प्राथमिकताएं अपने देश, काल और परिस्थितियों को देखते हुए तय करनी चाहिए। कोई उधार की शिक्षा प्रणाली हमें उन समस्याओं, साधनों और सीमाओं की जानकारी

नहीं दे सकती जो कि हमारी अपनी समस्याएं, साधन और सीमाएं हैं। उदाहरण के लिए वक्त की पाबंदी, सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा और विशिष्ट अवसरों पर महज दिखावे के लिए अनाप–शनाप खर्च से बचना अब भी हमारे राष्ट्रीय चरित्र का अंग नहीं बन पाए हैं। उन्हें आज भी हमारी शिक्षा की प्राथमिकताओं में शामिल किए जाने की जरूरत है। इसी तरह हम देखते हैं कि हमारा देश, आज जहां एक ओर जबरदस्त ऊर्जा संकट से जूझ रहा है वहीं दूसरी ओर हमारा शिक्षित वर्ग आरामतलबी के उन साधनों की ओर अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है जिनमें ऊर्जा का घोर अपव्यय होता है। क्या यह चिंताजनक नहीं है कि जहां पश्चिमी देशों में स्वचालित वाहनों का उत्पादन पहले की तुलना में काफी कम हो गया है वहां हमारे देश में यह तेजी से बढ़ रहा है। आवागमन के सार्वजनिक साधनों को अधिक आरामदेह और सर्वसुलभ बनाने की कोई प्रेरणा देने के बजाए आज हमारा मीडिया अधिकाधिक लोगों को निजी वाहनों की खरीद के लिए प्रेरित कर रहा है।

इस बात को भी बड़ी आसानी से देखा जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय निर्धारित समानता और भाईचारे के संवैधानिक लक्ष्यों से, शिक्षा के क्षेत्र में हम कितने भटक गए हैं! हमारे इस विचलन का अनुमान अकेली इस बात से लगाया जा सकता है कि आज के पचास वर्ष पहले, जिन राजकीय विद्यालयों में पढ़ कर, उस समय के लाखों छात्रों ने अपना जीवन संवारा था, आज उनमें सामान्य आर्थिक हैसियत वाले परिवार भी अपने बच्चों को भेजना पसंद नहीं करते, जबकि हमारे उन निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए होना तो यह चाहिए था कि आज के समय तक आते–आते किसी बड़ी से बड़ी हैसियत वाले भारतीय नागरिक के बच्चों की शिक्षा के लिए भी एकमात्र वे ही विद्यालय उपलब्ध होते।

यदि हमें, अपनी शिक्षा को आज भी हमारे लिए प्रासंगिक और अर्थवान बनाना है, तो हमें अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य को ध्यान में रखते हुए, उन तमाम चीजों को पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहिए, जो हमारे विद्यार्थियों को हमारे देश के एक मजबूत और प्रशंसनीय राष्ट्र के रूप में निर्माण हेतु प्रेरित कर सकें। यदि हम शिक्षा के क्षेत्र में लापरवाही बरत कर उन तमाम मूल्यवान चीजों को खो देते हैं जिन्हें हमारी परंपरा ने अब तक भी किसी तरह बचा कर रखा है, तो हम उसके द्वारा केवल लोगों को भोगवाद की अंधी दौड़ के लिए प्रेरित करते हैं। यदि हम उसके माध्यम से उन्हें जनसंख्या वृद्धि, पर्यावरण विनाश, पेयजल संकट या ऊर्जा संकट, जैसे खतरों के प्रति पर्याप्त रूप से सावधान नहीं करते हैं, तो इसे मानवता के प्रति हमारी अक्षम्य लापरवाही ही कहा जाएगा।

हमें गंभीरता से इस बात पर विचार करना चाहिए कि आज की पूंजीवादी विकास व्यवस्था में शिक्षा का जो स्वरूप होता जा रहा है, वह उसके द्वारा लोगों का आर्थिक दोहन कर अधिकाधिक मुनाफा कमाने के लिए भले ही अनुकूल हो, मानव जीवन को अपनी संपूर्णता में सुखी और समृद्ध बनाने में उसकी कोई भूमिका नहीं हो सकती। मानव की तमाम अन्य गतिविधियों की भांति, शिक्षा का अंतिम लक्ष्य भी यदि मानव के लिए अधिक भौतिक सुख–सुविधाएं जुटाने के साथ–साथ भावनात्मक रूप से उसे अधिक संतुष्ट और आनंदपूर्ण जीवन बिताने में सहायता करना न हो, तो उसे हम कदापि 'अच्छी शिक्षा' का नाम नहीं दे पाएंगे।

सदाशिव श्रोत्रिय : सेवानिवृत प्राचार्य (कॉलेज शिक्षा)। शिक्षा और समाज के मसलों पर निरंतर लेखन।

■ पुस्तक समीक्षा

21वीं सदी में भारत के सरोकार

रजनी द्विवेदी

संपादक : एच. के. दीवान / वेददान सुधीर
प्रकाशक : नई दिल्ली, सामयिक बुक्स
आई एस बी एन 978–9380458–60–1
पृष्ठ–368
मूल्य – ₹695

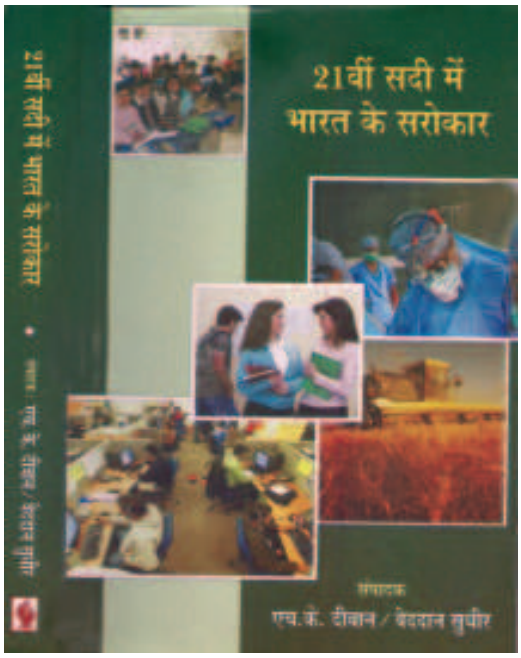

पुस्तक के शीर्षक से ही पुस्तक में दी गई सामग्री के बारे में अनुमान हो जाता है। पुस्तक की भूमिका, बहुत स्पष्ट सटीक शब्दों में इसके संदर्भ व पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करती है। पुस्तक में कुल 19 लेख हैं। पुस्तक में सम्मिलित सभी लेख अपनी तरह से पिछली सदी के महत्त्वपूर्ण सरोकारों, चिंताओं, उपलब्धियों, हुई गलतियों, नाकामियों के बारे में विश्लेषण करते हुए आने वाली सदी में किन–किन मुद्दों पर सोचने, ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है, पर प्रकाश डालते हैं। इन लेखों का चयन इस प्रकार का है कि उन्हें पढ़ते–पढ़ते पूरी सदी में हुई घटनाओं का एक खाका सा बनने लगता है, न केवल राष्ट्रीय स्तर का बल्कि विश्व स्तर का भी। कुछ लेख बड़े हैं व लेखों की भाषा में थोड़ी क्लिष्टता है, लेकिन लेखों द्वारा जिन विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, उनकी प्रकृति को देखकर यह कहा जा सकता है कि कुछ क्लिष्टता का होना स्वाभाविक है।

पुस्तक के लेखों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में रखा जा सकता है, पहले वे लेख जो विशेष रूप से देश के राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक सरोकारों के बारे में चर्चा करते हैं। दूसरे वे लेख, जो मुख्य रूप से शैक्षिक सरोकारों को रेखांकित करते हैं। पंद्रह लेख ऐसे हैं, जिन्हें पहली श्रेणी में रखा जा सकता है। जैसे कि पहला ही लेख सभ्यता के विकास के चरणों, आधुनिकता व उदारवाद के उदय की बात करता है। आधुनिकता को परिभाषित करते हुए, वह आधुनिकता के आधारभूत स्तंभों यथा– तार्किकता, उदारवाद व व्यक्तित्ववाद, पूंजीवाद की भी चर्चा करता है और यह चित्रण करने का प्रयास करता है कि इन आधारों पर निर्मित आधुनिक समाज का स्वरुप कैसा होगा। दूसरा लेख, अंबेडकर द्वारा प्रतिपादित लोकतंत्र की अवधारणा व लोकतंत्र के संबंध में अन्य अवधारणाओं यथा– तार्किकता, नैतिकता, सामाजिक व्यवस्था, समाजवाद इत्यादि को कैसे समझा गया है, के बारे में बात करते हुए लोकतंत्र की चुनौतियों का प्रश्न उठाता है और कहता है कि पिछली सदी में स्थापित लोकतंत्र के सिद्धांतों को, वर्तमान सदी के संदर्भ में देखते हुए परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इस तरह यह लेख, संविधान के सिद्धांतों की पुनर्स्थापना की भी गुजारिश करता है। इसी श्रेणी में अगला लेख, बीसवीं सदी की मुख्य राजनैतिक घटनाओं का जिक्र करते हुए इस ओर ले जाता है कि कैसे पूंजीवाद अपनी जड़ें जमा रहा है और कैसे इस वजह से विभिन्न समीकरण बदलते जा रहे हैं। एक तरफ लेख यह

कहता हुआ प्रतीत होता है कि अब कुछ नहीं हो सकता। लेकिन साथ ही यह आशा भी जगाता है कि जब समाजवाद नहीं रहा, तो पूंजीवाद भी खत्म तो होगा ही। कुछ लेख 21 वीं सदी में भारत के सामाजिक, राजनैतिक, ग्रामीण सरोकारों के बारे में प्रकाश डालते हैं। कुछ अन्य लेख विकास के मायने, विकास व लोकतंत्र, गांव का विकास, पंचायतीराज की स्थिति जैसे मुद्दों को भी सामने रखते हैं।

दूसरी श्रेणी में वे लेख हैं जो शैक्षिक सरोकारों से संबंधित हैं। पांच लेख शिक्षा की गुणवत्ता के मायने, बदलते शैक्षिक परिदृश्य, उसकी चुनौतियां, बहुभाषिकता व विश्वविद्यालयी शिक्षा के बारे में विमर्श से संबंधित हैं। शिक्षा में गुणवत्ता हमेशा से ही एक विमर्श का विषय रहा है और पिछले कुछ दशकों में इस पर विमर्श बढ़ा है। '21वीं सदी के प्रारंभ में शिक्षा की गुणवत्ता'' लेख इंगित करता है कि बाजारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण व उनसे जन्मी अनिश्चितताओं व प्रतिस्पर्धा के इस दौर में गुणवत्ता के बारें में गंभीरता से सोचने की जरूरत है। नहीं तो अध्यापन कब उपलब्धि केंद्रित प्रक्रिया बन जाएगा, यह पता ही नहीं चल पाएगा। विद्यार्थियों की उपलब्धि के स्तर को मापने वाले, फिर तुलना करने वाले विभिन्न अध्ययनों का हवाला देते हुए यह लेख कहता है कि ये अध्ययन विद्यार्थी को एक उत्पाद मानते हैं और इसलिए शिक्षा में गुणवत्ता से इनका मतलब होता है– वह प्रक्रिया, जो इस उत्पाद को बेहतर बना सके। लेख यह भी इंगित करता है कि गुणवत्ता के कई आयाम हो सकते हैं। अतः गुणवत्ता के निर्धारण में बड़ी सावधानी रखने जरुरत है। यदि आधुनिकता को हम कोई चुनौती नहीं दे सकते तो कम से कम हम गुणवत्ता के सरोकारों को तो बढ़ा ही सकते हैं।

यह लेख देश में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा हेतु निर्मित कार्यक्रमों का भी जिक्र करता है। इसी श्रेणी में दूसरा लेख संविधान द्वारा किए गए वायदों– सभी के साथ बराबरी का व्यवहार, किसी कार्य को पूरा करने की सामूहिक जिम्मेदारी, सभी को न्याय आदि की याद दिलाता है। साथ ही यह प्रश्न भी उठाता है कि इन सभी के संदर्भ में हम क्या कुछ कर भी पाए हैं अथवा नहीं। लेख वर्तमान शैक्षिक ढांचे की कमियों को भी रेखांकित करता है। एक अन्य लेख शिक्षा के सार्वजनीकरण, निजीकरण/व्यवसायीकरण, उच्च शिक्षा में सुधार, जैसे मुद्दों को बड़े सतही तौर से छूने का प्रयास करता है। लेख प्राथमिक शिक्षा व उच्च शिक्षा में संबंध के बारे में, विभिन्न शैक्षिक संस्थानों के बीच नेटवर्क और संसाधनों यथा– स्कूल में शिक्षकों की उपलब्धता अन्य जरूरी संसाधनों की उपलब्धता जैसे मुद्दों के बारे में कोई विशेष चर्चा नहीं करता है।

यदि इस पुस्तक को समग्रता में देखा जाए तो यह जरूर है कि यह पुस्तक 21वीं सदी में आने वाले बहुत से सरोकारों को पाठकों के समक्ष रखती है। किसी एक मुद्दे को समझने के जो विभिन्न नजरिए हो सकते हैं, उन्हें इस पुस्तक में देखा जा सकता है। जैसे तार्किकता व वैज्ञानिक, दृष्टिकोण, तार्किकता व लोकतंत्र आदि। इस पुस्तक की एक सीमा है कि यह इन सरोकारों से एक अच्छा परिचय तो करवाती है, किंतु किसी एक संदर्भ को उदाहरणों के साथ गहराई से समझने व विश्लेषण करने के मौके उपलब्ध नहीं करवाती। साथ ही कई ऐसे मुद्दे भी हैं जिनके बारे में यह पुस्तक जहां–तहां सिर्फ जिक्र भर करती है। जैसे प्रकृति व वातावरण से जुड़ी चिंताएं, देश के आर्थिक पक्ष से जुड़ी चिंताएं आदि।

यह पुस्तक उन पाठकों के लिए ज्यादा अर्थपूर्ण होगी जो इस तरह के संदर्भों से थोड़े वाकिफ हों या वाकिफ होने में रुचि रखते हों क्योंकि हर लेख अपने विशेष संदर्भ में अपना एक नजरिया प्रस्तुत करते हुए नजर आता है और उसे समझने के लिए संबंधित ज्ञान की और थोड़े आधार की मांग करता है।

रजनी द्विवेदी : विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, उदयपुर में कार्यरत।

फील्ड विजिट : कुछ नोट्स

कमलेश जोशी

मई, 2013

संदर्भ शिक्षकों से संपर्क करने के संदर्भ में गदरपुर (ऊधम सिंह नगर, उत्तराखंड) फील्ड विजिट के दौरान हमारे सामने दो स्कूली परिदृश्य उभरे। जब हम पहले स्कूल राजकीय प्राथमिक विद्यालय दुर्गापुर न. – 2 जा रहे थे तो रास्ते में अच्छे भवन वाले तीन–चार प्राइवेट स्कूल दिखे। औद्योगिक क्षेत्र होने के कारण सड़क के किनारे खेतों में नए–नए भवनों का निर्माण हो रहा है। अधिकतर खेत भवन निर्माण के लिए बिक गए हैं। सड़क के आगे मुड़ते हुए हम प्राथमिक विद्यालय पहुंचे। स्कूल में एक शिक्षक व एक नई शिक्षिका हाल में यहां आईं हैं। विद्यालय में करीब 50 बच्चे नामांकित हैं।

शिक्षक से बातचीत में यह उभरा कि यहां आसपास कुछ प्राइवेट स्कूल खुल गए हैं और इस वजह से हमारे विद्यालय में बच्चे आते ही नहीं हैं। उनकी संख्या कम हो रही हैं। अभिभावकों से बात करें तो वे कहते हैं कि स्कूल में बच्चों के बैठने के लिए कुर्सी, मेज तो हैं नहीं, उन्हें नीचे बैठना पड़ता है। उन्हें हम स्कूल क्यों भेजें? आगे उन्होंने कहा कि मैं कई बार बच्चों के घर गया हूं और पालकों से बच्चों के नाम स्कूल में लिखवाने के लिए कहता हूं। आगे उन्होंने कहा, एक दिन एक जगह मैं सुबह एक बच्चे के घर पर बात करके आया। उन्होंने कहा, 'वे कल से भेजेंगे।' लेकिन कोई नहीं आया। अगले दिन फिर उनके घर गया। अभिभावक से बात हुई तो उन्होंने कहा कि सुबह आप आए थे। दोपहर में पास के प्राइवेट स्कूल के शिक्षक आए थे। उन्होंने कहा कि हमारे यहां भेजो। फीस बाद में दे देना। नाम अपने स्कूल में लिख लेते हैं।

अगली बात उन्होंने कही कि हमारी शिक्षा व्यवस्था सही से कार्य नहीं कर रही। हमारे ब्लॉक के शिक्षा अधिकारी को यह भी पता नहीं होता कि ब्लॉक में दस अच्छे स्कूल या दस अच्छे शिक्षक कौन से हैं? जबकि

किसी कंपनी के मैनेजर को अपने यहां अच्छा काम करने वाले हर कर्मचारी के बारे में सब पता होता है।

बातचीत के उपरांत सवाल यह उभरता है कि सरकारी स्कूलों की ऐसी हालत हुई क्यों? इसकी जिम्मेदारी किसकी है? शिक्षक कहते हैं कि समुदाय के लोग स्कूल को टिप–टॉप देखकर ही अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं। वे आगे कहते हैं कि हमारे यहां ज्यादा योग्य शिक्षक हैं लेकिन सवाल यह है कि स्कूल में वे कितना पढ़ाते हैं? या उन्हें पढ़ाने का कितना मौका मिलता है?

दूसरे स्कूल, पूर्व माध्यमिक विद्यालय तिलपुर–2 का परिदृश्य यह है कि जब हम इस स्कूल पहुंचे, तो देखा कि शिक्षक बच्चों से विज्ञान का एक प्रयोग करा रहे हैं। छठी–सातवीं के बच्चे उन्हें घेरे हुए हैं। वह बड़ी लगन से बच्चों के साथ विद्युत मोटर से जुड़ा प्रयोग कर रहे हैं। किसी शिक्षक को मैंने बहुत दिन बाद बच्चों के साथ इस तरह लग कर काम करते हुए देखा। मन में प्रसन्नता हुई। आगे पता चला कि अभी कुछ दिन पूर्व विज्ञान किट पर एक प्रशिक्षण हुआ था। उसको देखकर वे उत्साहित हुए और उन्होंने सर्वप्रथम साइंस किट का जुगाड़ अपने संकुल से किया। यह किट पहले वहां धूल खा रही थी।

यह स्कूल गदरपुर कस्बे से बारह–पंद्रह किलोमीटर दूरदराज के जंगली इलाके में है। स्कूल जाते हुए खेतों व पेड़–पौधों के गलियारे से गुजरना पड़ता है। उसका एहसास स्कूल पहुंचकर भी जारी रहता है। स्कूल का बड़ा कैंपस है। फूल लगे हैं। खेल का मैदान है। स्कूल में साफ–सफाई है। तीनों कक्षाओं को मिलाकर करीब चालीस बच्चे तथा दो शिक्षक हैं। बच्चों से कक्षा की दीवार पर लगे नक्शे पर बातचीत हुई वे बातचीत में उत्तराखंड के सीमावर्ती राज्यों के बारे में बता रहे थे। शिक्षक से बातचीत हुई तो उन्होंने कहा हम दोनों शिक्षकों का अच्छा तालमेल है। हमें समुदाय से अच्छा सहयोग मिलता है। उन्होंने यहां एक किचन शेड बना के दिया है। शिक्षक व बच्चों से बातचीत के बाद यह विचार आया कि अन्य सरकारी स्कूलों में भी क्या ऐसा हो सकता है?

राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय रामनगर, रूद्रपुर से चार–पांच किमी. की दूरी पर स्थित है। विद्यालय का प्रांगण बहुत बड़ा है। इस प्रांगण में दो विद्यालय संचालित हैं, एक प्राथमिक विद्यालय व एक अन्य उच्च प्राथमिक विद्यालय। हमारे एक साथी को हम बच्चों के साथ पर्यावरण अध्ययन की कक्षा की प्रक्रियाओं को समझने के लिए वहां ले गए। विद्यालय के मैदान में एक घना पेड़ है। साथी ने बताया कि यह गूलर की प्रजाति का पेड़ है। पेड़ पर तरह–तरह के पक्षी थे। उन्होंने आगे बताया कि ये फाख्ता है। मैना बैठी हुई है। बगुले भी हैं। कहीं नर कोयल की कुहू –कुहू की आवाज आ रही है। उनका ये ब्रीडिंग सीजन है। उन्होंने आगे कहा कि विद्यालय के बच्चों के साथ इस पेड़ के पक्षियों व जीवों का अध्ययन करवाया जा सकता है। यह बढ़िया काम हो सकता है।

इसके बाद हम स्कूल पहुंचे। स्कूल में करीब एक सौ आठ बच्चे तथा तीन शिक्षिकाएं हैं। शिक्षिकाएं बाल गणना के कार्य को समेटने में लगी हुई हैं। हमने एक शिक्षिका से बातचीत कर चौथी व पांचवीं कक्षा के बच्चों को एक साथ बैठाया। दोनों कक्षाओं को मिला कर करीब तीस बच्चे हैं। पहले कुछ बच्चों की बनाई बॉक्स फाइलों को देखा। उसमें उनके बनाए कुछ चित्र, कक्षा के काम आदि संकलित हैं। उनकी फाइलों में पत्तियों को चिपकाकर कुछ पशु–पक्षियों की आकृतियां बनाई हुई हैं। इस पर बच्चों से बातचीत की। इससे यह भी लगा कि कक्षा में बच्चों के साथ कुछ काम किया जाता है।

फिर बच्चों से परिचय की शुरुआत हुई। सबका परिचय हुआ। इसके बाद बच्चों के चार–चार के समूह बनाए गए। बच्चों से पूछा गया कि वे अपने आसपास जो पशु–पक्षी देखते हैं, उनके नाम बताएं। बच्चों ने नाम बताए– मकड़ी, चींटी, खरगोश, हाथी, कुत्ता, शेर, कबूतर, तोता, मोर आदि। एक बच्ची ने कंगारू बताया तो उससे पूछा गया, 'कहां देखा?' उसने कहा, 'अपनी मौसी के घर।' ठीक, इसे भी लिख लेते हैं। उनके नामों की सूची ब्लैकबोर्ड पर बनाई गई। फिर उनसे पूछा गया कि इनमें किस–किस की पूंछ होती है। उनके आगे टिक किया गया। फिर किनकी टांगें होती हैं और कितनी? बच्चों ने चींटी की दो, चार और छह टांगे बताई। मकड़ी की टांगों के बारे में चार, छह व आठ बताया। तब कहा गया कि ये अलग–अलग हैं, इन्हें देखना पड़ेगा। इनके कानों के बारे में भी बात हुई। इतने में एक बच्चा चींटी पकड़ कर ले आया, फिर कुछ और बच्चे भी ले आए। एक बच्चा एक छोटी मकड़ी भी ले आया। उन्होंने कहा कि यह छोटी है, इसके पैर नहीं गिन सकते, बड़ी मकड़ी लानी पड़ेगी। बच्चों के साथ चींटी के पैर गिने गए। उसका जबड़ा भी दिखाया गया। फिर ब्लैकबोर्ड पर चित्र बनाकर छह टांगों को समझाया गया। एक बच्ची ने कहा कि किताब में तो चार ही पैर दिए हैं। तब यह बात हुई कि किताब में भी कहीं गलत हो सकता है। इसी तरह मकड़ी की आठ टांगों के बारे में बताया गया। आगे यह भी बात हुई कि प्रत्येक पशु–पक्षी के जोड़े में ही पैर होंगे। बच्चों से विचार करने को कहा गया कि क्या उन्होंने ऐसे जंतु देखे हैं जिनकी टांगे एक, तीन, पांच हो बच्चे सोच में डूब गए आगे उन्होंने उनकी पूंछ के बारे में भी बात और कहा इनमें किन–किन की पूंछ होती है? इस तरह बच्चों को पशु–पक्षियों के पैर व उनकी पूंछ के बीच पैटर्न खोजने की ओर प्रेरित किया गया। इसी दौरान कक्षा की शिक्षिका भी आ गई। वे भी कक्षा में कुछ देर बैठी रहीं और कक्षा की प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया।

इसके बाद जूनियर की कक्षाओं से नक्शा भी मंगवाया गया और उसमें दिशाओं को समझाते हुए ऑस्ट्रेलिया को खोजा गया। इसमें यह बात की गई कि कंगारू इस देश में पाया जाता है। जो हमारे यहां से काफी दूर है। फिर यह बात हुई कि कंगारू की जो थैली होती है उसमें वह अपने बच्चे को रखती है क्योंकि उसका बच्चा थोड़ा पहले (प्री मैच्योर) पैदा हो जाता है। इसलिए उसे वह थैली में रखती है, ताकि उसे गर्मी मिलती रहे। अंत में बच्चों से कहा गया कि अब उनके मन में जो सवाल हों वे पूछें। बच्चों ने कुछ सवाल पूछे। इस पूरी प्रक्रिया से हमें यह पता चला कि इस विषय पर बात करने के लिए एक शिक्षक की विषयवस्तु पर गहरी समझ होने की जरूरत है। वरन् शिक्षक यह तो कहते हैं कि बच्चों को बाहर ले जाते हैं लेकिन उनसे वहां क्या अवलोकन करवाना है, उनसे क्या इकट्ठा करवाना है, उनसे क्या बात करनी है, उस पर बहुत समझ नहीं रहती। इस कारण कक्षा में काम बहुत आगे नहीं बढ़ता।

गदरपुर की लाइब्रेरी व गतिविधि केंद्र पर शिक्षकों के साथ पर्यावरण अध्ययन पर एक कार्यशाला संचालित की गई। शुरुआत में पंद्रह–बीस मिनट पर्यावरण अध्ययन के उद्देश्यों पर चर्चा हुई फिर इसकी विषयवस्तु पर। संदर्भ व्यक्ति द्वारा ब्लैकबोर्ड पर एक तालिका बनाई गई और सहभागियों को चार–चार के समूह में विभाजित किया। इसके उपरांत सजीव–निर्जीव पर चर्चा शुरू हुई। हर समूह से पूछा गया कि वे किस आधार पर कह रहे हैं कि यह चीज सजीव है या निर्जीव? इसके लिए तालिका में आगे भी कॉलम बनाए गए। जैसे– सांस लेते हैं, गति करते हैं, अपना भोजन बनाते हैं, प्रजनन करते हैं आदि। पेड़ पर बात आ गई।

उन्होंने कहा कि हम कैसे जानते हैं कि पेड़ अपना भोजन बनाते हैं। तो हमारा उत्तर होता है कि प्रकाश संश्लेषण से। ऐसा ही पत्तियों के हरा होने का कारण क्लोरोफिल होता है। बच्चे इन्हें मात्र याद ही कर लेते हैं। इन पर बच्चों की समझ कैसे बनाएं? इस पर हमें काम करने के बारे में सोचना चाहिए। यह भी सोचना चाहिए कि इस प्रकार की अवधारणा को किस स्तर पर रखें।

इसके बाद पत्तियों पर बात शुरू हुई। जब हम बच्चों को बाहर ले जाते हैं और उन्हें पेड़–पौधों का अवलोकन करने को कहते हैं। उनसे पत्तियां भी इकट्ठी करवाते हैं, पर इन पत्तियों पर क्या बात की जाए? इस पर हमें विचार करने की जरूरत है। जैसे कि ये कुछ पत्तियां हमारे सामने हैं, अब इन पत्तियों का क्या करें? हम इनकी संरचना को देखकर इन्हें वर्गीकृत कर सकते हैं। इनमें कुछ का विन्यास समानांतर हो सकता है, कुछ का जालीदार। इसी तरह आगे बच्चों से हम इनकी जड़ों को देखने के लिए भी कह सकते हैं कि पौधों की जड़ें कैसी हैं? किसकी जड़ें मूसला हैं किसकी झकड़ा? आगे उन्होंने बताया कि हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि जड़ों व पत्तियों में हमें दो ही पैटर्न देखने को मिलते हैं। इसकी खोजबीन बच्चों से करवाई जानी चाहिए। यह भी नोट करने की बात है जिन पत्तियों की संरचना जालीदार हैं, उनकी जड़ें मूसला होंगी व जिन पत्तियों की संरचना समानांतर हैं, उनकी जड़ें झकड़ा होंगी। हालांकि इसके कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। इसी तरह हम उनके बीजों का अवलोकन कर सकते हैं। उनकी पत्तियों की जमावट का भी अवलोकन करवा सकते हैं।

इन सब चर्चाओं से मुझे गहरा एहसास हुआ कि इस विषय पर काम करने के लिए किसी भी शिक्षक या संदर्भ व्यक्ति की विषयवस्तु पर गहरी पकड़ की जरूरत है। केवल विषय के उद्देश्यों को जानकर हम बहुत दूर नहीं जा सकते।

शिक्षकों को यह कार्यशाला अच्छी लगी। उन्होंने कहा कि यह कार्यशाला आपको स्कूल का सत्र शुरू करने से पहले करवानी चाहिए। ऊधम सिंह नगर डायट से उपस्थित मैडम ने कहा कि पत्तियों की संरचना के बारे में बचपन में पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा जरूर था लेकिन उन्हें देखा आज पहली बार।

अंत में मुझे यह भी लगा कि हमारी ब्लॉक स्तर के शिक्षक समूहों की बैठकों का प्रारूप ऐसा ही होना चाहिए जिससे शिक्षकों को अपनी कक्षा में काम करने के कुछ संकेत व संदर्भित सामग्री मिल सके, जिसे वे अपनी कक्षा से जोड़ सकें।

कमलेश जोशी : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, ऊधमसिंह नगर, उत्तराखंड में कार्य करते हैं।

प्री–बेसिक शिक्षा :

बच्चे के हाथ में कमान

मॉर्जरी सॉइक्स

शांता नरुलकर गांधीजी के मार्गदर्शन में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करने के लिए तैयार हो गई। गांधीजी ने भी इस विषय में अपने सिद्धांतों का एक खाका प्रस्तुत किया। अपनी तमाम खामियों के बावजूद शांता नरुलकर जिस स्कूल में काम कर रही थीं वहीं कार्यकर्त्ताओं और ग्रामीणों के बीच घनिष्ठ और स्थायी संपर्क था। आश्रम के गांव में बाल कल्याण केंद्र की स्थापना के साथ संपर्क का एक ओर सूत्र जुड़ गया जिसकी कमान क्वेकर पंथ की अनुयायी बारबरा हार्टलैंड ने संभाली। इस केन्द्र की स्थापना पहले एक सेवा केन्द्र के रूप में की गई थी, बाद में शांता की योजना में शामिल कर दिया। शांता ने भी अब हरिजन बस्ती में रह कर उनके रोजमर्रा जीवन का सर्वेक्षण करना शुरू कर दिया। उन्होंने पाया कि वहां तमाम चीजों में सुधार की दरकार थी लेकिन ऐसा तब हो सकता था जब लोग सामूहिक हित में सोचते और अपनी ताकत में आत्मविश्वास पैदा करते। धीरे–धीरे ऐसा हुआ भी। लोगों की दिलचस्पी बढ़ती गई। अब आगे...

गांधीजी को छोटे बच्चों के बीच काफी खुशी मिलती थी। जब वे लंदन में थे, तो 1931 में आईलिंग्टन में गरीब बच्चों के लिए चलाए जाने वाले मॉन्टेसरी स्कूल का उन्होंने दौरा किया था। भारत में भी मैडम मॉन्टेसरी के शिक्षण के तरीकों में लोगों ने काफी दिलचस्पी ली, लेकिन यहां जो मॉन्टेसरी स्कूल खोले गए, वे मुख्यतः शहर में थे और उनमें इस बात पर जोर था कि वहां हूबहू वही सारे उपकरण लगाए जाएं जैसे यूरोपीय स्कूलों में लगाए जाते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि ये स्कूल सिर्फ अमीरों के लिए बनकर रह गए। इसी तरह का हश्र, ब्रिटेन में गरीबों के लिए शुरू किए जाने वाले नर्सरी स्कूलों का भी हुआ, जो आखिरकार भारत में अभिजात्य तबके के होकर रह गए। हालांकि, मद्रास में 1935 के बाद एक कामयाब प्रयास किया गया था, जिसमें नर्सरी के शिक्षकों को भारतीय परिस्थितियों और उपकरणों के सहारे पढ़ाने का प्रशिक्षण दिया गया। शांता नरूलकर खुद एक योग्य शिक्षिका थीं और इन तमाम प्रयोगों से वाकिफ थीं। उन्होंने अपना काफी समय महिलाओं और बच्चों की शिक्षा में गुजारा था। उनके प्री–बेसिक स्कूल में शिक्षा क्षेत्र के अग्रणी विचार को फ्रोएबल, मॉन्टेसरी, राशेल मैकमिलन आदि के रचनात्मक विचारों का समावेश किया गया था और उन्हें एक भारतीय गांव के संदर्भ में लागू करने की कोशिश की गई थी। बहुत शुरुआत में ही यह बात मान ली गई थी कि जीने की कला में महारथ हासिल करने का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझदार अभिभावकत्व

है, जो पुरुषों और महिलाओं सभी के लिए प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य है। सभी अभिभावक अपने आप में शिक्षक होते हैं, भले ही वे इस बात को महसूस कर पाएं अथवा नहीं। बच्चों के चौतरफा विकास के लिए तमाम जरूरतों को पूरा करना उन्हीं का काम है उनकी रोजमर्रा की जरूरतें, उनका शारीरिक स्वास्थ्य, उनका बौद्धिक और नैतिक विकास आदि। यदि माता–पिता बच्चों के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझ पाने में नाकाम रहते हैं, तो स्कूलों में किए गए तमाम प्रयास पूरी तरह विफल हो जाएंगे। आखिरकार, शिक्षक चाहे कितना भी समर्पित क्यों न हो, माता–पिता का स्थान नहीं ले सकता। यह बात खासकर बचपन के शुरुआती दिनों के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है।

अधिकतर माता–पिता अपने बच्चों को प्यार करते हैं और स्वाभाविक तौर पर उनके लिए सबसे अच्छा करना चाहते हैं। यह स्वाभाविक लगाव अनिवार्य है। बाहर की स्थितियां चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हों, वे किसी बच्चे को दिए जाने वाले प्रेम और उसके अहसास की भरपाई नहीं कर सकतीं। इसके बावजूद प्राकृतिक लगाव ही अपने आप में पर्याप्त नहीं होता। तमाम माता–पिता चाहे वे अमीर हों या गरीब, बहुत कम ही समझ पाते हैं कि उनके बच्चे की वास्तविक जरूरतें क्या हैं। जहां तक भावनात्मक और बौद्धिक आवश्यकताओं की बात है, माता–पिता इस बात को महसूस ही नहीं कर पाते कि कोई बच्चा इसकी भी जरूरत महसूस कर सकता है। अक्सर माता–पिता चौतरफा शिक्षा देने की जिम्मेदारी का अहसास नहीं करते जिससे कि बच्चे की समग्र आवश्यकताओं के प्रति न्याय बरता जा सके। इसीलिए बच्चे की शिक्षा की दिशा में माता–पिता की शिक्षा पहला कदम होना चाहिए। किसी बच्चे के अनुभव और दुनिया भर की अंकित पहली छवियां दरअसल दोनों ही अभिभावकों के रवैए से ही गढ़ी जाती हैं। सुख और दुःख के पहले अनुभव के लिए एक शिशु अपनी मां पर ही निर्भर होता हैं। मां की सेहत यह तय करती है कि बच्चे का पेट भरा या नहीं। मातृत्व का ज्ञान या अज्ञान यह तय करता है कि बच्चे को स्वच्छ वातावरण में शारीरिक राहत मिल रही है या नहीं। माता और पिता दोनों ही घर के वातावरण के लिए जिम्मेदार होते हैं, जहां बच्चा बड़ा होता है और अपने पहले सामाजिक संपर्क बनाता है। सेगांव नाम के एक गांव के बच्चे निजी स्वच्छता और पोषण के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, क्योंकि उन्हें इस बारे में पढ़ाने की बात किसी के दिमाग में ही नहीं आई थी। किसी ने यह नहीं सोचा कि उन्हें अच्छी आदतें सिखाई जाएं क्योंकि वयस्कों को ही नहीं पता था कि अच्छी आदतें और अच्छा आचरण क्या होता है। वे कभी खुद से यह नहीं पूछ सके कि उनके बच्चे कैसे बड़े हो रहे हैं, न तो माता–पिता और न ही ग्राम समुदाय इस बात की जिम्मेदारी लेने को तैयार था कि वह अपने बच्चों को एक अच्छा नागरिक बनाएगा।

इसके बावजूद सभी वयस्क अपने बच्चों के वर्तमान और भविष्य को लेकर तो चिंतित रहते ही हैं, यह एक प्राकृतिक–सामाजिक दायित्व है, जिसे हर किसी को स्वीकार करना चाहिए। यह दायित्व तब तक पूरा नहीं किया जा सकता, जब तक माता–पिता में से कोई भी एक, स्वास्थ्य और स्वच्छता की बुनियादी जरूरतों के प्रति अनभिज्ञ है। एक परिवार की केंद्रीय आर्थिक धुरी होने के नाते हर, पिता की जिम्मेदारी यह बनती है कि वह घर की जरूरतों में साफ पानी, पोषक भोजन और स्वच्छ वातावरण को प्राथमिकता दे। जो बच्चे साफ–सुथरे होते हैं और नियमित भोजन व नींद लेते हैं, वे स्वस्थ और संतुष्ट होते हैं। इन तमाम चीजों को करने के तरीके सिखाना प्रौढ़ शिक्षा का ही हिस्सा है। समझदार अभिभावकत्व की शिक्षा का एक अन्य पहलू माता–पिता को यह अहसास कराना है कि उनका अपना चरित्र, आदतें और व्यवहार बच्चों पर किस तरह असर डालते हैं। एक बच्चे के शुरुआती जीवन की तकरीबन सभी छवियां अपने माता–पिता और घर के बड़ों से ही बनती हैं। रोजाना के छिटपुट झगड़े और विवाद बच्चे में सुरक्षा की भावना को नष्ट कर देते हैं और उसे काफी नुकसान पहुंचाते हैं। एक खुश और

संतुष्ट बच्चा हमेशा अपने वातावरण की खोज करने और नए प्रयोग करने को उत्सुक रहता है। उसे आजादी और सक्रियता चाहिए।

एक बच्चे का प्राकृतिक विकास अनावश्यक प्रतिबंधों, बिना मतलब की दखलंदाजी आदि से अवरुद्ध हो सकता है। घर में अच्छे संबंधों के दायरे को विस्तार देते हुए पड़ोस और बच्चों के स्कूल को भी उसमें शामिल किया जाना चाहिए। इससे बच्चे की प्रेम और सुरक्षा सम्बन्धी जरूरतें पूरी हो जाती हैं और जीने–खाने का धंधा एक सुखद अनुभव में तब्दील हो जाता है।

एक प्री–बेसिक स्कूल का काम दरअसल इन सभी पहलुओं के मामले में बच्चों के जीवन में सर्वश्रेष्ठ मानक स्थापित करना है और इन मानकों के बारे में समूचे गांव की आंखें खोलनी हैं। सेगांव में स्थित स्कूल में बच्चों और माता–पिता को साफ पानी मिलता है और सादा–स्वस्थ भोजन मिलता है, जो घर में मिले अपर्याप्त पोषण की भरपाई करता है। यहां पढ़ाने वाले अध्यापक मांओं और दादियों को दिखाते थे कि कैसे वे भी सस्ते में बच्चों के लिए भोजन को बेहतर बना सकती हैं। कई बच्चे ऐसे होते थे, जो साफ–सुथरे कपड़ों में तो स्कूल आते, लेकिन उनके बालों में जुंए पड़ी होतीं, तब शिक्षक उनकी मांओं को जुंओं से मुक्ति पाने के तरीके बताता। इसके बाद मांओं को यह महसूस करने में समय नहीं लगता कि वे भी खुद अपने बालों से जुंए निकाल सकती हैं और साफ कपड़े पहन सकती हैं। जो बच्चे स्कूल में एक शौचालय में शौच करना सीख गए थे, वे सड़कों पर शौच करने से इनकार करने लगे और अपने घरों पर शौचालय की मांग करने लगे। स्कूलों में बच्चे गीत गाते, खेलते और कहानियां सुनते–सुनाते, स्कूलों में हर किस्म की अनुपयोगी चीजों से बने खिलौने थे, जिनसे बच्चे अपने शारीरिक और मानसिक दोनों ही किस्म के कौशल को सुधारने में सक्षम हो गए थे। स्कूलों में तमाम बच्चों के लिए अतिरिक्त नींद लेने का एक अवसर मौजूद था, जिसकी शायद कई को जरूरत थी। ये सभी चीजें सेगांव के प्री–बेसिक स्कूल का हिस्सा थीं, साथ ही ग्रामीण जीवन का भी अभिन्न अंग बन चुकी थीं। इस किस्म के मित्रवत और सहयोगात्मक माहौल में अच्छी चीजें स्वाभाविक तौर पर अपने आप एक से दूसरे व्यक्ति में संचारित हो जाती हैं। यहां बच्चों का शिक्षण और प्रौढ़ शिक्षा एक–दूसरे के समानांतर चल रहे थे। दरअसल, होना भी ऐसा ही चाहिए। यदि किसी भी कारण से यह परस्पर समझदारी और मित्रता गैर–मौजूद रहती है, तो इसके नतीजे बच्चों के लिए बुरे होंगे। इसका अर्थ यह होगा कि दो विरोधी किस्म के प्रभाव अपने वर्चस्व के लिए संघर्ष कर रहे होंगे। बच्चे को अपनी ओर खींचने के लिए एक ओर घर होगा तो दूसरी ओर स्कूल। ऐसी स्थिति में बच्चे भावनात्मक तनाव में आ जाएंगे, जिसका सीधा असर समाज के एक सदस्य के रूप में उनके भविष्य के विकास पर होगा। जाहिर है, अच्छे नागरिक गृहयुद्ध में पैदा नहीं होते। स्कूलों और घरों को एक–दूसरे के साथ एक समझौता करना चाहिए कि आखिर वे अपने बच्चों के पालन–पोषण के लिए चाहते क्या हैं। इस संदर्भ में सेवाग्राम का वह अग्रणी प्री–बेसिक स्कूल आज भी उदाहरण बना हुआ है। कालांतर में समूचे भारत में लगाए जाने वाले सैंकड़ों बालवाड़ियों के लिए यही स्कूल मॉडल बना।

क्रमशः...

साभारः नई तालीम कहानी से।
मॉर्जरी सॉइक्स (1988), नई तालीम की कहानी, अनुवाद : श्री प्रकाश, क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

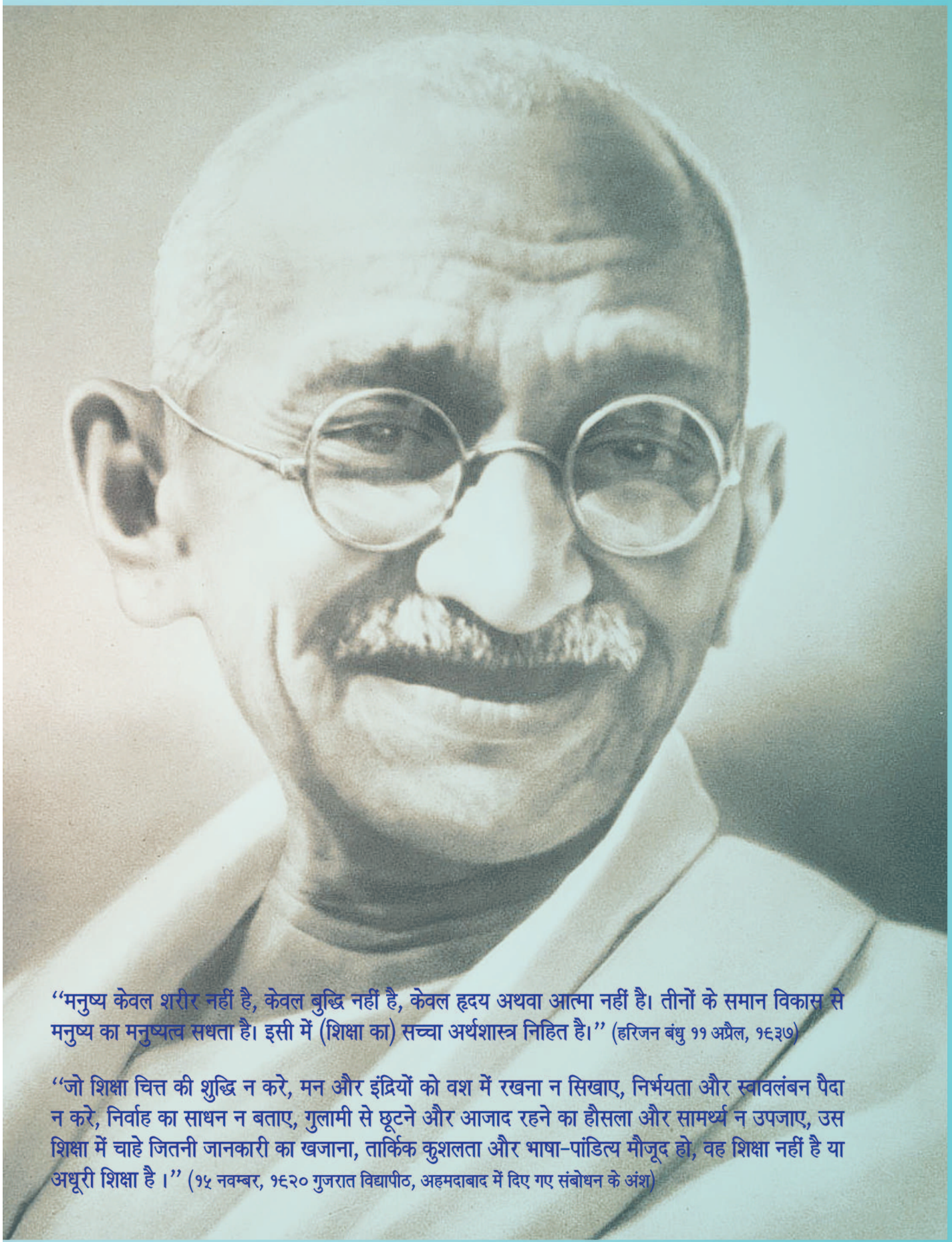

“मनुष्य केवल शरीर नहीं है, केवल बुद्धि नहीं है, केवल हृदय अथवा आत्मा नहीं है। तीनों के समान विकास से मनुष्य का मनुष्यत्व सधता है। इसी में (शिक्षा का) सच्चा अर्थशास्त्र निहित है।” (हरिजन बंधु ११ अप्रैल, १९३७)

“जो शिक्षा चित्त की शुद्धि न करे, मन और इंद्रियों को वश में रखना न सिखाए, निर्भयता और स्वावलंबन पैदा न करे, निर्वाह का साधन न बताए, गुलामी से छूटने और आजाद रहने का हौसला और सामर्थ्य न उपजाए, उस शिक्षा में चाहे जितनी जानकारी का खजाना, तार्किक कुशलता और भाषा-पांडित्य मौजूद हो, वह शिक्षा नहीं है या अधूरी शिक्षा है ।” (१५ नवम्बर, १९२० गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में दिए गए संबोधन के अंश)

स्कूल की दीवारें

कक्षा कक्ष की साफ दीवारें
डराती हैं मुझे
संशय पैदा करती हैं
इन खाली दीवारों की ओर ताकती नजरें
अनायास खो नहीं जाती होंगी शून्य में
इन कमरों में बैठे बच्चे
कितना बेगानापन महसूस करते होंगे
पाते ही मौका
भर देना चाहते होंगे इनमें
अपनी कुंठाओं के चिह्न
निकल भागना चाहते होंगे वहां
जहां अपने मन का कुछ कर पाएं।
कुछ कहना चाहती हैं
स्कूल की दीवारें
छूना चाहती हैं
नर्म हथेलियों की मासूम गर्माहटें
भरना चाहती हैं
अपनी कोरी साफ काया में
नटखट कल्पनाशीलता के रंग
थक गई हैं वे
जगहों को बांटते–बांटते
बालमन को भाने वाली
अपनी सी लगने वाली
पंक्तियों से
सजना चाहती हैं
स्कूल में अपनी
सक्रिय भागीदारी की मांग करती हैं दीवारें।

रेखा चमोली
राजकीय प्राथमिक विद्यालय, गणेशपुर,
उत्तरकाशी (उत्तराखंड) में शिक्षिका है।

विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर की ओर से प्रकाशक व मुद्रक : रियाज़ ए. तहसीन, पता : विद्या भवन सोसायटी, डा. मोहन सिंह मेहता मार्ग, फतेहपुरा, उदयपुर, राजस्थान से प्रकाशित एवं संजय प्रिन्टर्स, 71, महिला मंडल स्कूल के पास, मुखर्जी चौक, उदयपुर, (राज.) से मुद्रित, संपादक : भाग चंद्र कुमावत।